उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ जनवरी—१९८६ अंक—१

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

बालक की तरह सरल विश्वास हुए बिना ईश्वर नहीं मिलते। माँ ने कह दिया कि वह तेरा भैया है, बस उसको सोलह आना विश्वास हो गया कि मेरा भैया है। माँ ने कह दिया कि उस कमरे में 'हौआ' रहता है, बालक ने पूरा-पूरा विश्वास कर लिया कि उस कमरे में 'हौआ' रहता है। इस तरह बालक के जैसा विश्वास देखने पर भगवान् को दया आती है। सांसारिक विषय बुद्धि के द्वारा वे नहीं मिलते।

(२)

हृदय के भीतर भक्तिभाव रखो, कपट चतुराई छोड़ दो। जो सांसारिक कर्म करते हैं, दफ्तर में काम या व्यापार करते हैं, उन्हें भी सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सच बोलना कलियुग की तपस्या है।

(३)

बारह वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने पर मनुष्य की मेधानाड़ी खुल जाती है। तब उसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण, कुशाग्र तथा अतिसूक्ष्म तत्वों की भी धारणा करने में समर्थ हो जाती है। इस प्रकार की शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही ईश्वर के दर्शन होते हैं।

(४)

मन मानो घुँघराले बाल की तरह होता है। घुँघराले बाल को जब तक खींचकर रखो तब तक वह सीधा रहता है, छोड़ देते ही फिर सिकुड़ जाता है। इसी भाँति, मन को भी जब तक जबरदस्ती खींचकर वश में रखा जाता है तभी तक वह ठीक रहता है, ढीला छोड़ते ही गड़बड़ करने लगता है।

(५)

कृपण व्यक्ति जिस प्रकार सोने-चाँदी के लिए व्याकुल होता है, भगवान् के लिए उसी प्रकार व्याकुल होओ।

श्रीसारदा-स्तवन

—श्रीसारदा तनय,

रामकृष्ण मठ, नागपुर

हे दयामयि सारदे माँ।
विनयबोध विचार दे माँ॥

मातृभावादर्श अभिनव भोगरत जग को दिखाने।
विश्व में अवतरण है तव, दुरितहरण-विशारदे माँ॥
मलिन चित साधनरहित है, धारणा तेरी न होवे।
ज्ञान-पावक में गला अनुरूप नव आकार दे माँ॥
मोहपंक-निमग्न हूँ मैं, धो कलंक निजांक में ले।
भ्रम-तिमिर से अंध हूँ, अब दृष्टि-दोष सुधार दे माँ॥
सदय होकर हृदय-तम हर, खोल अनुभव-द्वार दे माँ।
कर्मपाश विनाश कर दे, फिर न यह भवभार दे माँ॥

(२)

जागो जननि आज अंतःकरण में
हिय में सदा राज जीवन-मरण में॥

करुणामयी मात, छोड़ो नहीं हाथ,
रह तू सदा साथ निशि-जागरण में।
मैं दीन अज्ञान, तेरी कुसंतान,
तुझको जननि जान आया शरण में।
ना भक्ति ना ज्ञान, कैसे करूँ ध्यान,
दे माँ मुझे स्थान कृपया चरण में॥
भवजलधि अति घोर, मायापवन जोर,
तू ही तरणि एक भवसंतरण में।
है नाव मँझधार, अब तो करो पार,
तुम सम कुशल कौन पतितोद्धरण में॥

★

सम्पादकीय सम्बोधन

मेरी एक माँ हैं

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

आप सबको नव वर्ष के अवसर पर अभिनन्दन करते हुए ठाकुर, माँ एवं स्वामी जी से मेरी प्रार्थना है कि वे आपके जीवन को सुखी, शान्तिपूर्ण और सोद्देश्य बनावें।

'विवेक शिखा' इस अंक के साथ ही अपनी जीवन-यात्रा के पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। इस बीच कितनी ही बाधाएँ आयीं। आती रहीं। विवेक शिखा हर आँधी-तूफान को साहस के साथ झेलती रही। बीच-बीच में कई बार यह 'शिखा' काँपी, थरथराई, मगर बुझी नहीं। यही नहीं, बल्कि कुछ और इसकी रोशनी तेज हुई। कुछ और इसकी प्रभा पसरी। कुछ और इसका आलोक बिखरा।

लोगों ने इस रोशनी को महसूस किया है। इस 'शिखा' की अहमियत समझी है। अपनी जिन्दगी के चारों ओर फैले-पसरे गहरे अँधेरे में लोगों ने इस 'शिखा' से एक सहारा पाया है। वे गिरने-भटकने से बचे हैं। उन्हें अपनी यात्रा में चलने, चलते-रहने और मंजिल तक पहुँचने में यह 'शिखा' प्रेरक-शक्ति का काम करती रही है। निराशा की जगह आशा, भटकाव की जगह एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्योन्मुखता, थकान की जगह एक साहस से भरे आगे बढ़ने के उत्साह की आभा, हजार परेशानियों के बीच भी अपने केन्द्र से जुड़े रहने की अडिग आस्था वे पाते रहे हैं 'विवेक शिखा' से। हमें विश्वास है, अधिक से अधिकतम लोगों के लिए 'विवेक शिखा' जीवन-सखा बनकर उनके सुख-दुःख में उनके साथ-साथ चलेगी।

विवेक शिखा हर आँधी-तूफान से लड़ती रही है। हर अँधेरे के खिलाफ संघर्ष करती रही है। इस पुनीत कार्य के लिए इसे बल मिलता रहा है अपने अनेकानेक पाठकों से, ग्राहकों से, और इसके दृश्य-अदृश्य शुभचिंतकों से। रामकृष्ण मिशन के अनेक श्रद्धेय साधुओं-ब्रह्मचारियों ने इसे अपना प्रेम, अपना स्नेह, अपने सहयोग और अपने आशीष प्रदान किये हैं—बड़ी उदारता के साथ। मैं उन सबके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। ऐसे भी अनेक भद्रजन हैं जो ओस की बूँदों की तरह चुपचाप, नीरव, निःस्वार्थ भाव से कई रूपों में इसकी सहायता करते रहे हैं—ग्राहक बनकर-बनाकर, विज्ञापन देकर-दिलाकर, अनाम आर्थिक सहायता देकर-दिलाकर तथा इसका विक्रय कर, इसका प्रचार-प्रसार कर। इन्हें धन्यवाद क्या दूँ! मैं इन सब के समक्ष नत-विनत हूँ—श्रद्धा, आदर और आभार के साथ।

१९८६ का यह नया वर्ष! अनेक अर्थों में यह आशा की किरण लेकर आया है। इस वर्ष की शुरूआत हुई है बुधवार से। यह बड़ा अर्थवान है। मंगल सूचक है। बुधवार हमसब के परमाराध्य युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण का अवतार-दिवस है। आज से सौ वर्ष पूर्व सन् १८८६ ई० की पहली जनवरी को ही भगवान श्रीरामकृष्ण ने कल्पतरु की भाँति अपने समक्ष आये सभी लोगों को चैतन्य प्रदान कर मानो अघोषित घोषणा की थी कि विश्व के कोटि-कोटि मानवों को चैतन्य प्रदान करने के लिए ही उनका अवतरण हुआ था। इस वर्ष ३ जनवरी को ही लोकमाता श्री श्रीसारदा देवी की भी अवतरण तिथि है। १२ जनवरी को (अँग्रेजी तिथि के अनुसार) स्वामी विवेकानन्द के अवतरण दिवस को, राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में देश के कोने-कोने में

मनाया जायगा। विक्रम संवत के अनुसार १ फरवरी १९८६ को भी हम स्वामी जी की १२३वीं जयन्ती मनायेंगे। और फिर १२ मार्च को भगवान श्रीरामकृष्ण का अवतरण-उत्सव। श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द—एक ही तीन हो गये हैं और तीनों ही एक हो गये हैं। वर्ष के आरंभ के तीन महीने लगातार माँ-ठाकुर-स्वामीजी के अवतरणोत्सवों से—उनके जीवन, आदर्शों एवं आचरणों के प्रचार-प्रसार से—गूँजते रहेंगे। इससे ऐसा प्रतीत होता है, १९८६ का यह वर्ष, मानो श्रीरामकृष्ण के भावों और आदर्शों का प्रसार-वर्ष है। यह विश्व-मंगल की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। बड़ा ही शुभ है।

एक और बात की ओर हमारा ध्यान जाता है। इस वर्ष की जनवरी में श्री श्री माँ सारदा का जन्मोत्सव है। और इस वर्ष के दिसम्बर में भी श्री श्री माँ की अवतरण तिथि पड़ती है। बड़ा विलक्षण है यह। इस वर्ष का आरम्भ और अंत श्री माँ की जन्म-तिथि से ही होगा। मानो, यह वर्ष श्री माँ के मंगलमय आदर्शों और आशीषों का वर्ष है। यह श्री श्री माँ की अशेष असीम करुणा का वर्ष है। यह पूरा का पूरा मातृ-वर्ष है।

इस वर्ष को मातृ-वर्ष के रूप में देखने-मानने और मनाने की आवश्यकता भी है। जब तिलक दहेज के नाम पर, अपने क्षुद्र भोग एवं तुच्छ भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के नाम पर शक्ति स्वरूपा नारियों को पुरुष जलाने लगें, युवतियों के साथ अनाचार-पापाचार और बलात्कार की घटनाएँ बढ़ने लगें, नगरों-महानगरों की स्त्रियाँ पाश्चात्य सभ्यता की भोंड़ी नकल में तेजी से अग्रसर हो रही हों और लाख-लाख गाँवों की स्त्रियाँ अशिक्षा, कुसंस्कार, गरीवी, रोग, अनाचार और नाना प्रकार के शोषणों की शिकार हो कराह रही हों तब इस देश के पतन को कौन रोक सकता है? स्वभावत: नारी-शक्ति को, मातृ शक्ति को जगाना ही होगा। स्वयं श्रीरामकृष्ण इसी मातृशक्ति की प्रतिष्ठा के लिए अवतरित हुए थे। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक शिष्य से कहा था—'श्रीरामकृष्ण को देखा है—सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव—फिर वह चाहे किसी भी जाति की कैसी भी स्त्री क्यों न हो।······स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तभी तो उनकी सन्तान द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।' जब उनके शिष्य ने कहा कि आधुनिक शिक्षा का विपरीत फल हो रहा है, तो स्वामीजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—'असल बात यह है कि शिक्षा हो अथवा दीक्षा हो—धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्म शिक्षा, चरित्र गठन तथा ब्रह्मचर्य पालन इन्हीं के लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण बनाकर रखा गया है। तूने जिन सब दोषों का उल्लेख किया, वे इसी कारण उत्पन्न हुए हैं।'

और नारियों के चरित्र गठन के लिए एक आदर्श व्यक्तित्व चाहिए। वह आदर्श व्यक्तित्व श्री माँ सारदा से बढ़कर कोई अन्य नहीं है। इसी कारण से स्वामी विवेकानन्दजी ने जिस स्त्री-मठ की स्थापना की कल्पना की थी उसके केन्द्र में श्री माँ को ही प्रतिष्ठित करना उन्होंने उपयुक्त समझा था। उन्होंने कहा था—'अभी भी श्रीरामकृष्ण की कितनी ही भक्तिमती लड़कियाँ हैं। उनसे स्त्री-मठ का प्रारम्भ करके जाऊँगा। श्रीमाताजी (श्री माँ सारदा) उनका केन्द्र बनेंगी।' स्वामीजी का यह चिन्तन अकारण नहीं था।

श्री माँ थीं एक आदर्श कन्या, एक आदर्श सहधर्मिणी एक आदर्श गृहिणी, एक आदर्श माँ और एक आदर्श गुरु। इस विश्व-वाटिका में नारी-रूप के जो अनन्त पुष्प खिले हैं उनमें श्री माँ सर्वाधिक सुन्दर, कमनीय, अकलुष, निरंजन और पावन पारिजात पुष्प की भाँति खिली थीं। वे नारी छवि की परिपूर्णता की अप्रतिम, अनिंद्य प्रतिमा थीं—गंगा की भाँति निर्मल, हिमालय की

भाँति शुभ्र, आकाश की भाँति उदार और सिंधु की भाँति गहन गंभीर। सेवा, सहिष्णुता, तप, त्याग, करुणा, ममता, समता और स्वाधीनता की वे सचल तीर्थराज थीं।

श्री माँ सारदा में परम्परा और आधुनिकता का विलक्षण संगम था। भारतीय नारियों की पारम्परिक लज्जा के आवरण में अवगुंठिता रहकर भी वे नारी-मुक्ति, नारी प्रगति और नारियों के समानाधिकार की प्रबल प्रवक्ता थीं। नारियाँ सुशिक्षिता हों, स्वावलम्बी हों, आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन हों और आत्मसंयम रखते हुए प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होती रहें—श्री माँ की यह आन्तरिक इच्छा थी। एक स्त्री अपनी पुत्री का ब्याह नहीं हो पाने के कारण दुःखी भाव से माँ के निकट आकर अपनी व्यथा-कथा कहने लगी। श्री माँ ने तुरत उत्तर दिया—'विवाह नहीं करा पाती हो, इसके लिए चिन्ता करने की क्या बात है? चिन्ता करने से क्या होगा? निवेदिता के स्कूल में उसे भर्ती करा दो। लिखना-पढ़ना सीखेगी, अच्छी तरह रहेगी।' कितना अर्थपूर्ण और प्रगतिशील विचार है यह! माँ यह नहीं मानती थीं कि हर युवती के लिए विवाह करना आवश्यक ही है। वे नारी को मात्र पुरुषों के भोग-विलास का उपकरण बनकर जीवन-यापन करने का समर्थन नहीं करती थीं। वे चाहती थीं कि नारियाँ स्वाधीन हों। सुशिक्षिता हों। अर्थोपार्जन कर अपने पाँवों पर खड़ी होना सीखें और स्वाधीनता पूर्वक जीने की कला सीखकर मुक्ति के वायुमंडल में साँस लें। पराधीनता नहीं, स्वाधीनता, आर्थिक दासता नहीं समता; भोग नहीं, त्याग—आजकी नारियों के लिए इनकी प्रयोजनीयता स्वयं सिद्ध है। आज से प्रायः सौ वर्ष पहले के भारत की कल्पना कीजिए। बाल-विवाह के रोग से देश ग्रस्त था। और श्री माँ ने बाल-विवाह का तीव्र विरोध किया था। बाल-विवाह के कुपरिणाम को देखकर श्री माँ विकल-अस्थिर हो उठतीं। इसी भाँति नारियों के संयमहीन, स्वच्छंद भोगमय आचरण को देखकर भी श्री माँ का चित्त उद्विग्न हो जाता था। वे उद्विग्न होकर कहतीं—'जिसे अनेक बाल-बच्चे हो जाते, उन्हें ठाकुर ग्रहण नहीं करते थे। एक देह से पच्चीस बच्चे जन्म लेते हैं, वह क्या मनुष्य है! संयम नहीं, कुछ नहीं—जैसे पशु हो।' आर्थिक अवस्था के अनुसार संतान हो—श्री माँ इस रीति की पोषिका थीं।

अपने जीवन में श्री माँ सारदा देवी ने जिस संयम, जिस तपोनिष्ठता, जिस धर्म-परायणता और जिस पर-दोष-दर्शन-विमुखता का आचरण किया था वह आज की नारियों और पुरुषों के लिए किस प्रकार अनुकरणीय है, कहने की आवश्यकता नहीं। वे एक पूरी की पूरी महनीया नारी थीं—अपनी समग्रता में एक माँ थीं, सबकी माँ—दुःखियों-तापितों की माँ, लांछितों और उपेक्षिताओं की माँ—एक लोकमाता।

श्री माँ के शरीर त्याग के पाँच दिन पूर्व की एक घटना। शरीर रोग-जर्जर हो गया है। वाणी प्रकम्पित हो गयी है। किन्तु, अन्तःकरण में मानवता के मंगल के लिए एक दिव्य करुणा की अरुणाभ निर्झरणी फूट रही है—अविराम, निरन्तर। एक भक्त अन्नपूर्णा की माँ उनके निकट आती है—रोती, बिसूरती—श्री माँ को देखने के लिए। प्रणाम कर रोती-बिलखती हुई पूछती है—'माँ, हमलोगों का क्या होगा?' और अभयवरा श्री श्री माँ रुक-रुक कर क्षीण कण्ठ से अभय प्रदान करती हुई शाश्वत आश्वासन की वाणी में कहती हैं—'भय क्या है?' फिर धीरे-धीरे कहती हैं—'तब एक बात कहती हूँ—यदि शान्ति चाहती हो, माँ, तो किसी का दोष मत देखो। दोष देखना अपना। संसार को अपना बनाना सीखो। कोई दूसरा नहीं है, माँ, संसार तुम्हारा है।' यही है उनकी अंतिम वाणी—श्री माँ का अंतिम उपदेश। गंभीर अर्थ छिपा है, इस वाणी में। हम तो यही सुनते हैं कि संसार में कोई अपना नहीं है। पर श्री माँ कहती हैं—'कोई दूसरा नहीं है।' क्या अर्थ है इसका? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम अपने स्वजनों के प्रति, माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि के प्रति सदैव ममत्वपूर्ण रहते हैं, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-

दुःख मानते हैं, सदैव उनके प्रति आत्मीयता का भाव रखते हुए उनकी मंगल-कामना करते हैं, ऐसा ही भाव विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति हमें रखना चाहिए। तभी संसार को हम अपना बना सकते हैं। एक गंभीर अद्वैत चिंतन को श्री माँ ने अपनी अंतिम साँस तक लोगों के समक्ष सरल शब्दों में प्रस्तुत किया। आज के विषमतापूर्ण, संघर्षपूर्ण, हिंसापूर्ण विश्व में इस चिंतन के प्रचार-प्रसार की, अपने जीवन में उतारने की, कितनी आवश्यकता है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। बिना प्रेमपूर्ण हुए, पर-दोष-दर्शन की दृष्टि से विरत हुए हम इस विश्व को सुन्दर, शान्तिपूर्ण और आनन्दमय नहीं बना सकते, कभी नहीं बना सकते।

और श्रीमाँ ने यह केवल औरों को उपदेश देने के लिए नहीं कहा। स्वयं अपने जीवन में भी उन्होंने इस चिंतन को आचरित किया। वे माँ थीं, सब की माँ। जिस प्रकार वे 'सज्जनों की माँ' थीं, उसी प्रकार वे 'दुर्जनों की माँ' भी थीं। वे भले और बुरे सब की माँ थीं। वे अमजद जैसे दुराचारी की भी वैसी ही माँ थीं जैसी शरत् महाराज (श्रीरामकृष्ण के शिष्य स्वामी सारदानन्द) की। उनके पास कुली, मजदूर, गाड़ीवाला, पालकी ढोने वाला, फेरीवाला, पुत्र-शोक—विह्वला संथाल-स्त्री, फिल्म-निर्माता सोहराब मोदी, अँगरेज महिला भगिनी निवेदिता, देश-विदेश के स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान जो भी आये सभी उनके पुत्र-पुत्री हो गये। उन सबको श्रीमाँ का वैसा ही प्यार-स्नेह मिला जैसा वे अपने भक्तों और श्रीरामकृष्ण के संन्यासी या गृही भक्तों को स्नेह देती थीं। वस्तुत: वे जिस प्रकार सबल की माँ थीं; उसी प्रकार दुर्बल की भी माँ थीं, जिस प्रकार वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण नर-नारियों की माँ थीं, उसी प्रकार आर्त-पीड़ित, उपेक्षित-अवहेलित जनों की भी माँ थीं। वे राजाओं और भिखारियों सब की माँ थीं।

हाँ, श्री श्रीसारदा देवी केवल माँ थीं— वराभय-दायिनी सर्वजनों की जननी, समस्त जीवों की जननी, सब की करुणामयी माँ। 'मैं सबकी माँ हूँ'—इसी भाव से वे सब के साथ व्यवहार करती थीं। माँ, अर्थात् दया करुणा की जीवंत छवि। उन्होंने स्वयं कहा है—'मेरी दया जिस पर नहीं है—वह अभागा है। मेरी दया किस पर नहीं है, सो मैं नहीं जानती—समस्त प्राणियों पर है।'

श्री माँ सब की शरण-स्थली थीं। थीं नहीं, हैं। अपने जीवन-काल में जिस प्रकार वे सब की माँ थीं, उसी प्रकार वे आज भी सब की माँ हैं। उनकी शरण में जाने पर वे आज भी हमें अपने स्नेहांचल में वैसे ही समेट लेती हैं जैसे अपने जीवन काल में समेट लेती थीं। जरूरत है केवल उनकी उस शाश्वत आश्वसन भरी वाणी को सुनने की—'मन में सोचना, और कोई न हो, मेरी एक 'माँ' हैं।' आह, कैसी अखण्ड शान्तिदायिनी वाणी है! जब भी आपका मन ताप-तप्त हो, शोकार्त हो, व्यथा-विगलित हो, आपको केवल यही सोचना है—'मेरी एक माँ हैं'। और आप देखेंगे, आपके भीतर शान्ति की, अश्वस्ति की, प्रसन्नता की, आनन्द की कोई एक स्वर्गीय किरण उतर कर तैरने लगी है। आप स्थिर हो गये हैं, उत्फुल्ल हो गये हैं। इस मातृवर्ष में हम अपनी इस सर्वजननी माँ को सश्रद्ध प्रणाम करते हैं।

भारत की नारियों के लिए श्रीमाँ सारदा एक आदर्श आलोक-कुसुम हैं। उन्हें अपने भीतर श्रीमाँ को उतारना होगा, अवतरित करना होगा। और हम सब को सदा-सर्वदा अनुभव करना होगा—'मेरी एक 'माँ' हैं।' तभी यह मातृ-वर्ष सफल-सार्थक हो सकेगा।
जय श्री श्रीमाँ सारदा!

युवावर्ग के लिए श्री माँ सारदा का सन्देश

[श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित पुस्तक Teachings of Sri Saradadevi the Holy Mother से स्वामी निखिलेश्वरानन्द द्वारा संकलित, अनूदित तथा साभार गृहीत]

(१) बेटे, सुनो। बुद्धि के संसार से कलुषित होने के बाद कई लोग भगवान का नाम लेते हैं किन्तु वही धन्य है जो बचपन से ही भगवान् के प्रति समर्पित होता है।

(२) तपस्या, साधना, तीर्थभ्रमण, धनोपार्जन---यह सब युवावस्था में ही कर लेना चाहिए। देखो, वाराणसी तथा वृन्दावन में कई स्थानों पर मैं पैदल गयी थी, किन्तु अब कुछ दूर जाने के लिए भी मुझे पालकी की आवश्यकता पड़ती है। वृद्धावस्था में देह दुर्बल हो जाती है। बुद्धि भी कमजोर हो जाती है। उस समय कुछ करना क्या संभव है? यह सर्वथा उचित है कि हमारे मठ के संन्यासीगण बचपन से ही भगवान् में मन लगाये हैं। बेटा, तपस्या साधना सब अभी कर लो। जो कुछ पाना चाहते हो, अभी पा लो, यही समय है।

(३) देखो बेटा, ऐसा नहीं है कि तुम्हें कभी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा। कठिनाइयाँ आती हैं और चली जाती हैं। देखोगे कि वे सब पुल के नीचे से पानी के समान बह जायेंगी।

(४) बेटा, अत्यन्त सौभाग्य से यह मनुष्य जन्म मिला है। ईश्वर पर परम भक्ति रखो। कठोर परिश्रम करना चाहिए। बिना परिश्रम के क्या कुछ मिलता है? अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद प्रतिदिन कुछ समय प्रार्थना के लिए रखना होगा। मैं दक्षिणेश्वर में रहते समय बहुत व्यस्त रहती थी, फिर भी प्रार्थना तथा ध्यान करती थी।

(५) अविवाहित व्यक्ति जो पवित्र जीवन यापन करता है, प्रार्थना करे या न करे भगवान् की ओर तीव्र गति से अग्रसर होगा। अन्य लोग यदि भगवान् का चिन्तन करें तो भी उनके लिए भगवान् की ओर अग्रसर होना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि वे संसार में बँधे हुए हैं।

(६) विवाह मत करो, संसार में प्रवेश मत करो। यदि विवाह नहीं करोगे तो क्या हानि होगी? तुम जहाँ भी रहोगे, मुक्त रहोगे।

(७) बेटा, यह संसार गहरे दलदल के समान है। एक बार यदि कोई फँस जाय तो निकलना बहुत मुश्किल हो जाता है।

(८) बेटा, संसार के दुःखों को दूर करने के लिए कार्य करो।

(९) जीवन का उद्देश्य सफल होता है जब कोई व्यक्ति दूसरे को सुख पहुँचा सकता है।

(१०) कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। कार्य के द्वारा ही कर्म के बन्धन कटते हैं, तभी व्यक्ति वासना रहित होता है। मनुष्य को एक क्षण भी बिना कार्य के नहीं रहना चाहिए।

(११) बेटी, यदि शांति चाहती हो तो किसी का दोष मत देखो। दोष देखो अपना। पूरे संसार को अपना बनाना सीखो। बेटी, कोई भी पराया नहीं, पूरा संसार तुम्हारा अपना ही है।

(१२) बेटा, मैं तुम्हारी मुँहबोली माँ नहीं, झूठ-मूठ की माँ नहीं, गुरु पत्नी नहीं, मैं तुम्हारी सच्ची माँ हूँ, सच्ची माँ।

(१३) बेटे, डरो मत। सर्वदा याद रखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।

लज्जापटावृता माँ सारदा

--स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

लज्जापटावृते नित्यं सारदे ज्ञानदायिके ।
पापेभ्यो नः सदा रक्ष कृपामयि नमोऽस्तुते ॥

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द इन तीनों में माँ सारदा का माहात्म्य समझना सबसे कठिन है। एक बार श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य तथा 'श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग' नामक महान आध्यात्मिक ग्रन्थ के रचयिता स्वामी सारदानन्द जी, जिन्होंने लगभग एक दशक से अधिक काल तक माँ सारदा की अनन्य श्रद्धा-भक्ति के साथ सेवा की थी, से कहा गया कि वे माँ सारदा की एक विस्तृत एवं समीक्षा परक जीवनी लिखें। वे स्वयं एक महान अनुभूति सम्पन्न सन्त थे तथा इस कार्य के लिए उनसे उपयुक्त और कोई व्यक्ति नहीं हो सकता था। माँ सारदा की जीवनी लिखने के आग्रह को सुनकर सारदानन्द जी कुछ क्षण मौन रहे। उसके बाद उन्होंने निम्न आशय के एक बंगाली भजन को गुनगुनाते हुए अपनी असमर्थता प्रकट की।

रंग देख रंगमयी के अवाक हूँ,
हँसू या रोऊँ इसी सोच में बैठा हूँ।
रहा सदा साथ उनके, फिरा पीछे-पीछे,
फिर भी न समझ पाया कुछ, पराजित हुआ हूँ।
विचित्र उनकी भावलीला,
सांझ सबेरे गढ़ना तोड़ना।
हाँ, समझ में कुछ आया,
ठीक मानो बालक का खेलना।

जब माँ सारदा के अन्तरंग स्वामी सारदानन्दजी के लिए माँ को समझ पाना इतना कठिन था, तो फिर हम सामान्य जनों की तो बात ही क्या!

इस कठिनाई का एक कारण यह है कि माँ सारदा का जीवन एवं चरित्र सदा ही गोपन रहा है। वे स्वयं अत्यन्त लज्जाशीला थीं, तथा सदा लोक-चक्षु से दूर रहना पसन्द करती थीं। दक्षिणेश्वर में रहते समय वे प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व ही स्नानादि करके नहबतखाने के अपने कमरे में चली जाती थीं तथा बाहर रात्रि को या ऐसे समय ही निकलती थीं, जब वहाँ सब लोग चले जाते थे। स्वयं श्रीरामकृष्ण, जो लज्जा को नारियों का आभूषण मानते थे, माँ की लज्जशीलता को प्रोत्साहित करते थे तथा, उन्हें अज्ञात, छिपे रहने में मदद ही करते थे। वस्तुतः उन्होंने माँ को एक अमूल्य (आध्यात्मिक) निधि की तरह गोपनीय एवं सुरक्षित रखा था। वर्षों दक्षिणेश्वर में रहने पर भी वहां का खजांची माँ को एक बार भी नहीं देख पाया था। इस विषय में एक बार श्रीरामकृष्ण ने माँ की प्रशंसा करते हुए कहा था कि मुझे भय था कि वह गाँव के स्वच्छन्द वातावरण में रहने वाली युवती है, शहर में कैसे रह सकेगी, लेकिन देखता हूँ कि वह इतनी चतुराई से रहती है कि मैं स्वयं नहीं जान पाता कि वह कब कमरे के बाहर आती है।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके अन्तरंग भक्त माँ के बारे में बहुत कम चर्चा किया करते थे। उनके चित्र को कभी भी बाहर, सामान्य जनता के बीच प्रदर्शित नहीं किया जाता था। यही नहीं; उनका चित्र उनके दीक्षित शिष्यों को भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता था। स्वयं माँ सारदा सदा लम्बा घूँघट काढ़े रहती थीं; तथा आगन्तुक भक्त केवल उनके अनावृत चरणों का ही दर्शन एवं स्पर्शन कर पाते थे। यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी, शिष्य जो माँ के

पुत्र तुल्य थे, माँ के श्रीमुख का दर्शन नहीं कर पाते थे। एक दिन तो स्वामी सारदानन्द जी ने कह ही दिया था कि, माँ मेरे सामने भी इस तरह घूँघट खींचती हैं, मानो मैं उनका श्वसुर हूँ! और फिर स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीरामकृष्ण के विषय में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, लेकिन माँ सारदा के बारे में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। वे सचमुच "लज्जपटावृता" थीं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि जिस प्रकार राख से ढकी बिल्ली को अचानक पहचानना कठिन होता है, उसी प्रकार माँ सारदा को समझना कठिन है। माँ घूँघट के द्वारा अपने को छिपाए रखने वाली लज्जाशीला नारी ही नहीं थीं, बल्कि उनका स्वरूप, चरित्र एवं समग्र जीवन ही आवृत रहा था। उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष अपने आप में एक विशेष महत्व रखता है।

पारमार्थिक दृष्टि से माँ परमा प्रकृति थीं। स्वामी-अभेदानन्दजी ने माँ की स्तुति करते हुए उन्हें "प्रकृति परमां अभयां वरदां" कहा है। वेदान्त में प्रकृति को माया कहा जाता है। और यह माया वस्तुतः ब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा जगत की सृष्टि, स्थिति एवं लय होता है। जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति अभेद हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी माया शक्ति अभेद हैं। स्वामी सारदानन्दजी माँ सारदा की स्तुति करते हुए उन्हें परब्रह्म स्वरूप श्रीरामकृष्ण को शक्ति कहकर वन्दना करते हैं।

"यथाऽग्नेर्दाहिका शक्ती रामकृष्णे स्थिता हि या।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ॥

माया की दो शक्तियाँ कही गयी हैं। प्रथम आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है, और उसके बाद विक्षेप शक्ति द्वारा उस पर जगत प्रपंच की रचना करती है। यही माया जीव को ब्रह्म का स्वरूप जानने नहीं देती। इसे समझाने के लिए श्रीरामकृष्ण राम, सीता एवं लक्ष्मण का उदाहरण देते थे।

वन गमन के समय परब्रह्म स्वरूप राम आगे-आगे जा रहे हैं, एवं उनके पीछे सीता हैं, तथा लक्ष्मण सबसे पीछे हैं। बीच में सीता के होने के कारण जीव के प्रतीक लक्ष्मण राम को नहीं देख पा रहे हैं। सीता हैं माया। इसी तरह माँ सारदा भी आवरण शक्ति स्वरूपा माया हैं। अतः उनकी कृपा के बिना उनके स्वरूप को पहचानने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है?

माँ सारदा ने समय-समय पर अपने इस माया स्वरूप की स्वीकृति प्रदान की है। एक बार जब वे काशी में निवास कर रही थीं, कुछ महिलाएँ उनके दर्शन करने आयीं। उस समय माँ अपने भानजे-भानजी राधू, भूदेवआदि की देख रेख में व्यस्त थीं, तथा गोलाप माँ से अपना कपड़ा सी देने के लिए कह रही थीं। चिर परिचित सांसारिक, पारिवारिक दृश्य देखकर आगन्तुक महिलाओं में से एक कह उठी, "माँ, देखती हूँ कि आप घोर माया में बद्ध हैं।" माँ ने अस्फुट शब्दों में उत्तर दिया : "क्या करूँ माँ, मैं स्वयं माया जो हूँ!"

आधिदैविक दृष्टि से माँ सारदा को विभिन्न लोगों ने विभिन्न दैवी शक्तियों के अवतार के रूप में देखा है। श्रीरामकृष्ण के अनुसार माँ सारदा सरस्वती हैं, "जो ज्ञान दान करने के लिए अवतीर्ण हुई हैं!" "वह सारदा है, सरस्वती है, अतः शृंगार करना उसे अच्छा लगता है। लेकिन इस बार उसने रूप ढँक लिया है, जिससे अशुद्ध दृष्टि से देखने से लोगों का अकल्याण न हो,"— श्रीरामकृष्ण ने कहा है। लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्दजी) के अनुसार माँ सारदा स्वयं लक्ष्मी थीं। स्वामी विवेकानन्द उन्हें देवी बगला का अवतार मानते थे, जिसने अपने भयावह रूप को कोमलता के आवरण से ढँक रखा है। स्वयं माँ सारदा ने एक बार अनजाने ही सीता के साथ अपना एकत्व स्वीकार किया था। रामेश्वर की यात्रा से लौटने पर उन्होंने एक दिन बात-बात में कह दिया कि रामेश्वर का शिवलिंग उन्होंने वैसा ही पाया जैसा (त्रेता युग में सीता के रूप में) रख गयी थीं। एक बार कलकत्ते से पैदल दक्षिणेश्वर आते समय वे अपने साथियों से बिछड़ गयीं। रास्ते में तेलो-

भेलो नामक एक कुख्यात विस्तीर्ण मैदान था, जिसमें आये दिन डकैतियाँ होती थीं, तथा सूर्यास्त के बाद वहाँ जाना खतरे से खाली नहीं था। दुर्भाग्य से पद यात्रा के श्रम से माँ उस स्थान का सूर्यास्त के पूर्व पार नहीं कर सकीं; और जब वे वहाँ पहुँची तो अंधेरा हो गया था। अचानक एक विकराल डाकू उनके सामने आ गया— उसकेपीछे-पीछे उसकी पत्नी भी थी। लेकिन ज्यों ही उसने माँ को देखा तथा उनके ये शब्द सुने, "बाबा, मैं तुम्हारी बेटी सारदा हूँ, भटक गयी हूँ" कि उसका हृदय पसीज गया और-डाकू दंपति ने उन्हें अपनी बेटी के रूप में स्वीकार किया। इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा था कि माँ सारदा उन्हें काली के रूप में दिखी थीं। लेकिन माँ सारदा के ये विभिन्न दैवी रूप आवरित थे।

देवता किसे कहते हैं ? सभी प्राणियों में सत्-चित् आनन्द न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं, लेकिन जिन प्राणियों में मानव से अधिक मात्रा में ज्ञान, भक्ति एवं आनन्द रहते हैं, वे देव कहलाते हैं। ये देव दो प्रकार के होते हैं। प्रथम, सगुण ब्रह्म की शक्ति-विशेष के विग्रह रूप देव, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, काली इत्यादि; एवं द्वितीय, इन्द्र, वरुण, यम आदि प्रकृति की शक्ति विशेष के अधिष्ठाता देव, जो प्रारम्भ में मानव थे किन्तु अपने पुण्य कर्मों के कारण देव शरीर प्राप्त कर लेते हैं। इन दोनों प्रकार के देवताओं के शरीर सूक्ष्म, ज्योतिर्मय होते हैं, तथा वे अधिक ज्ञान एवं शक्ति सम्पन्न होते हैं। जो देवता सगुण ब्रह्म के अंग विशेष हैं; वे समय-समय पर जगत् के कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। लेकिन इस कार्य के लिए उन्हें अपने देवत्व को छिपाकर मानव शरीर धारण करना पड़ता है। क्योंकि इसके बिना न तो उनका जगत कल्याण का उद्देश्य ही साधित होता है, और न ही सामान्य मानव देवताओं के ज्योतिर्मय दिव्य रूप को देखने में समर्थ हो सकता है। अर्जुन श्रीकृष्ण के दिव्य विश्वरूप को देखकर भयभीत हो गया था। श्रीरामकृष्ण का भानजा हृदय उनकी सेवा किया करता था। एक दिन उसकी भी दैवी दर्शनादि, आध्यात्मिक अनुभूति लाभ करने की इच्छा हुई। श्रीरामकृष्ण को वह इसके लिए बार-बार कहने लगा। लेकिन उनकी कृपा से जब उसे दर्शन हुए तो वह उसे सहन नहीं कर पाया और अपना संतुलन खो बैठा। अतः देवगण अवतरित होने के लिए, अपने दिव्य स्वरूप को ढँकने के लिए योग माया का आश्रय लेते हैं। भगवान गीता में कहते हैं: "संभवाम्यात्ममायया"।

माँ सारदा के जीवन में योगमाया उनकी भानजी राधू के रूप में आविर्भूत हुई थी। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि योगमाया ने माँ की राधू के प्रति तीव्र आसक्ति का रूप लिया था। कथित है कि राधू के माँ के जीवन के साथ संबद्ध होने के पूर्व माँ का चेहरा तथा देह एक दिव्य कान्ति से चमकते थे, वे एक देवी जैसी दिखाई देती थीं, तथा उनके निकट जाने का लोगों को साहस नहीं होता था। लेकिन राधू के आने के बाद उनकी मुख-कान्ति म्लान हो गयी थी।

योग माया का आश्रय लेने पर भी इन अवतारी महापुरुषों एवं नारियों में देवत्व इतना अधिक होता है कि वह कभी-कभी अचानक योगमाया के आवरण को भेद कर प्रकट हो आस-पास के लोगों को चकाचौंध कर देता है। उसे छुपाने के लिए ये अवतारी पुरुष अन्य उपायों का अवलम्बन लेते हैं। माँ सारदा के व्यवहार, वाणी एवं जीवन में भी हमें ये बातें दिखाई देती हैं। स्वरूपतः ज्ञानदायिनी सरस्वती होते हुए भी माँ एक निरक्षरा सामान्य अनपढ़ ग्राम्य महिला ही थीं। धनैश्वर्य प्रदायिनी देवी लक्ष्मी होते हुए भी वे जीवन भर निर्धन बनी रहीं। वे सामान्य नारी की तरह भयभीता थीं। बंगाल के क्रान्तिकारी, आतंकवादी युवकों पर निगाह रखने के लिए, माँ के जयरामबाटी स्थित निवास स्थान पर भी पुलिस की निगरानी रहती। इससे माँ डर जाया करती थीं। ऐसी स्थिति में कौन माँ के वराभय-कारा काली रूप को समझ सकता है ? बगला एक भीषणा देवी हैं। लेकिन माँ तो अत्यन्त कोमल, मृदु

स्वभावा, वात्सल्य पूर्ण, एवं सरला थीं ।

इन विभिन्न बाह्य रूपों के अतिरिक्त माँ का व्यवहार भी मानवोचित था और अगर कभी अनजाने में स्वयं को देवी आदि कह बैठती थीं तो तत्काल उसे छिपाने का प्रयास करती थीं। अगर कोई उन्हें देवी, भगवती, जगदम्बा आदि कहकर सम्बोधित करता तो माँ या तो तत्काल प्रतिकार करतीं, अथवा उस स्थान से उठकर चली जाती थीं। वे सदा यही कहती थीं कि ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) ही सब कुछ हैं, वे स्वयं कुछ नहीं तथा ठाकुर को पुकारने से ही सब कुछ होगा। वे ठीक एक ग्राम्य वधू की तरह रहा करती थीं। ग्राम वासी कभी-कभी आकर उन्हें कहते थे कि लोग तुम्हें काली कहते हैं, लेकिन तुम तो हमारे जैसी ही हो। जब ग्राम के चौकीदार अम्बिका ने एक दिन यह बात पूछी तो माँ ने कहा कि तुम मेरे भाई अम्बिका हो और मैं तुम्हारी बहन सारदा। बस यही पर्याप्त है।

चारित्रिक एवं आध्यात्मिक सदगुणों की दृष्टि से माँ एक महान सन्त, नारी, एवं सिद्ध गुरु थीं। भाव, दर्शन, सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि आदि सभी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उन्हें हुई थीं। वे आदर्श गुरु थीं तथा अपने प्रत्येक शिष्य को उसकी मनः स्थिति, एवं देश एवं काल के अनुसार उपदेश दिया करती थीं। उनमें प्रत्येक शिष्य के इष्ट को बड़ी आसानी से पहचानने की क्षमता थी। लेकिन उनका यह चारित्रिक एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य उनके एक संसारी व्यक्ति के से व्यवहार से पूर्णरूप से आवृत था। राधू के प्रति उनकी घोर आसक्ति थी। उसके बिना वे रह ही नहीं सकती थीं। माँ की स्वयं की रुचि-अरुचि थी। एक बार रुग्णावस्था में उन्होंने एक विशेष तरकारी खाने की इच्छा व्यक्त की थी जो डाक्टर ने मना किया था। भयभीत भी वे एक सामान्य नारी की तरह होती थीं। एक बार उनके पैर में फोड़ा हो गया। डाक्टरों का परामर्श था कि उसको चीरकर पीप निकाल दिया जाना चाहिए, लेकिन वे किसी भी तरह राजी नहीं हुईं। अन्त में उनके अन्तरंग सेवकों ने छलपूर्वक उनके फोड़े का आपरेशन कर डाला। सगे सम्बन्धी की मृत्यु पर वे एक सामान्य मानव की तरह ही उच्च स्वर से विलाप करती थीं। कई बार उन्हें क्रुद्ध होते हुए भी देखा गया था। तात्पर्य यह है कि उनमें क्रोध, मोह, भय आदि सामान्य बद्ध प्राणियों के दुर्गुण दिखाई देते थे, तथा प्रशान्ति, हर्ष शोक, शीत-उष्ण, रुचि-अरुचि में पूर्ण समता आदि साधोचित गुण कहीं दिखाई नहीं देते थे। उनके इस सांसारिक व्यक्तित्व के कारण उनकी शिष्य संगिनी योगेन माँ की बुद्धि भी चकरा जाती थी तथा उनके मन में भी माँ के स्वरूप के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हो जाता था।

माँ का आधिभौतिक रूप अर्थात् स्थूल शरीर भी उनकी जीवदशा में सदा तीन-तीन आवरणों से आवृत रहता था।

दक्षिणेश्वर के नहबतखाने के अपने कमरे में, अथवा परवर्ती काल में, जयरामबाटी या उद्बोधन आदि अपने निवास स्थानों में वे सदा घर के अन्दर रहा करती थीं। फिर, उनके 'द्वारपाल' स्वामी सारदानन्दजी, तथा योगीन माँ, गोलाप माँ आदि उनके अन्तरंग साथी थे जो सदा उनकी रक्षा किया करते थे। नवागतों के साथ वे इनके माध्यम से ही बात चीत करती थीं। और अन्त में, वे अपने चेहरे को एक वस्त्रावरण—घूँघट से ढककर रखा करती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माँ सारदा का पारमार्थिक स्वरूप, आधिदैविक पक्ष, आध्यात्मिक चरित्र, लौकिक जीवन तथा भौतिक देह, सभी, मानव समाज की दृष्टि एवं बुद्धि से अगोचर बने रहे थे। पारमार्थिक स्वरूप में वे स्वयं आवरण शक्ति समन्विता माया शक्ति थीं। उनके सरस्वती, लक्ष्मी, बगला एवं काली आदि दैविक रूप क्रमशः उनकी निरक्षरता, निर्धनता, मृदुता एवं भयाकुलता द्वारा आवृत हुए थे। उनके संतोचित गुण एवं आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उनके सांसारिक व्यवहार एवं व्यक्तित्व द्वारा छिप गये थे एवं उनका भौतिक शरीर उनकी लज्जाशीलता, अन्तरंग संगी सेवकों एवं वस्त्रांचल से ढका रहता था।

मां के आवरणों को दूर कर उनके दर्शन करने के उपाय

अब आइए, यह देखने का प्रयत्न करें कि हम, माँ की सन्तानें, उनके निरावरण विशुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कैसे प्राप्त कर सकते हैं। जगन्मातृ-दर्शन के कठिन कार्य को करने के पूर्व हमें एक बात याद रखनी चाहिए कि जिस प्रकार माँ पर विभिन्न आवरण हैं, उसी प्रकार हम पर भी अनेक आवरण हैं। लेकिन जबकि माँ द्वारा वे स्वेच्छा से स्वीकार किये गये हैं, वहाँ, वे हमारी बाध्यताएँ हैं। वे वस्तुतः माँ के माहात्म्य को बढ़ाते हैं तथा उनके लिए उपयोगी हैं, जबकि वे हममें दोष तथा हमारे आध्यात्मिक जीवन में बाधा स्वरूप हैं। माँ के ये स्वस्वीकृत आवरण उनकी अतुलनीय शक्ति के प्रतीक हैं, जबकि वे हमारी दुर्बलता के द्योतक हैं। जिस माया-वरण को माँ ने अपनी मानव लीला की पूर्ति के लिए स्वेच्छा से स्वीकार किया था, वही हमारे लिए अज्ञान या अविद्या के रूप में बन्धन एवं जन्म-मृत्यु रूपी संसार चक्र का कारण है। माँ में विद्यमान दैवी लज्जा उनका भूषण थी। श्रीरामकृष्ण लज्जा को नारियों का भूषण कहते थे। लेकिन यही लज्जा साधकों का एक दोष मानी जाती है। जिसे घृणा ओर भय के साथ दूर किया जाना चाहिए श्रीरामकृष्ण कहते थे, "लज्जा, घृणा, भय, तीन थाकते नय।" माँ सारदा ने बड़ी सावधानी से अपने गुणों एवं सन्तोचित विशेषताओं को छुपाया था, लेकिन हम अपने दुर्गुणों को छिपा कर स्वयं को पुण्यवान दिखलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

वेदान्त दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा ज्ञान स्वरूप, चैतन्य स्वरूप है। है। आत्मा का यह ज्ञान मल, विक्षेप एवं अज्ञान नामक तीन आवरणों से ढँका रहता है। गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार धुएँ द्वारा आग तथा मल द्वारा दर्पण आवृत होता है उसी प्रकार काम एवं क्रोध द्वारा आत्मा का ज्ञान आवृत हो जाता है। इस तरह विभिन्न शास्त्रों में आत्म-प्रकाश को ढँकने वाले आवरणों का वर्णन किया गया है। ये हम पर विद्यमान आवरण हैं। और यदि हमारी अन्तर्दृष्टि अज्ञान आदि द्वारा धूमिल हो, बुद्धि काम-क्रोध आदि द्वारा मलिन हो, तथा हमारा मन पूर्वाग्रहों एवं चंचलता से दूषित हो तो हम माँ सारदा को कैसे समझ सकेंगे? अपने मन, बुद्धि और आत्मा पर छाये इन दोष रूपी मेघों को हटाकर, चित्त शुद्ध कर, साधना द्वारा स्वयं देवत्व के स्तर पर उठने पर ही हम माँ के देवत्व को समझने में समर्थ हो सकते हैं। इसीलिए स्वामी अद्‌भुतानन्दजी कहते थे कि माँ तथा उनकी कृपा को समझने के लिए महान तपस्या की आवश्यकता है। और यही कारण है कि माँ के वास्तविक स्वरूप को श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, नाग महाशय आदि उनके महान शिष्य ही समझ सके थे।

लेकिन हममें से अधिकांश के लिए ऐसे उच्च आध्यात्मिक स्तर पर उठना असम्भव है। अतः हमारे लिए माँ के स्वरूप को जानने का एक मात्र रास्ता यही बचता है कि हम उन महापुरुषों के वचनों पर विश्वास करें जो उन्हें जानते थे। तथा माँ की जीवनी में देवत्व की छुट-पुट यदा-कदा प्राप्त हो रही झलकों द्वारा उनके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। एक नाटक में नाटककार कौन है, यह जानने के लिए हम उस व्यक्ति की बात को स्वीकार करते हैं, जो नाटककार को पहचानता है, तथा नाटक के समय बता सकता है कि रावण या राम की भूमिका करने वाला व्यक्ति अमुक है। अथवा यदि हम स्वयं नाटककार को पहचानते हों तो मुखौटे के पीछे उसके चेहरे की झलक देखकर अथवा अन्य पात्र के वस्त्रों के नीचे नाटककार के स्वयं के कपड़ों को देखकर हम नाटककार को पहचान सकते हैं। माँ का स्वरूप पहचानना भी ठीक इसी प्रकार का है।

माँ सारदा के दिव्य स्वरूप को पहचानने वाले श्रीरामकृष्ण प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने माँ की षोडशी पूजा की थी। वे सदा माँ सारदा को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे तथा उनके सुख-स्वाच्छन्द्य की ओर विशेष दृष्टि रखते थे। एक बार गलती से, अपनी भानजी समझ कर उन्होंने माँ को 'तू' कह दिया।

इस पर वे बहुत लज्जित हो उठे और माँ से बार-बार माफी माँगते रहे। एक बार माँ के पूछने पर कि वे उन्हें किस दृष्टि से देखते हैं, श्रीरामकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा था कि जिस देवी की दक्षिणेश्वर मंदिर में पूजा होती है, तथा जिसने उन्हें जन्म दिया है, वे माँ सारदा को उसी रूप में देखते हैं। श्रीरामकृष्ण का कथन था कि उनके किसी पर रुष्ट हो जाने से तो रक्षा हो सकती है, लेकिन यदि माँ सारदा किसी से रुष्ट हो जायँ तो फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी रक्षा नहीं कर सकते।

स्वामी विवेकानन्द दूसरे व्यक्ति थे जिन्होंने माँ सारदा के स्वरूप को पहचाना था। स्वयं ब्रह्मज्ञ महापुरुष होते हुए भी वे माँ के पास जाने के पूर्व स्वयं को शुद्ध करने के लिए बार-बार गंगा स्नान करते थे। उनकी दृष्टि में माँ साक्षात् पवित्रता स्वरूपिणी माँ जगदम्बा थीं। यह बात उन्होंने विभिन्न अवसरों पर अपने पत्रों तथा वार्तालापों में व्यक्त की थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी तथा साधु नाग महाशय तो माँ के दर्शनों के लिए जाते समय भाव विभोर हो जाया करते थे।

श्रीमाँ की जीवनी से परिचित पाठक उनके जीवन में ऐसे अनेक दृष्टान्त पायेंगे जहाँ माँ का देवत्व जाने अनजाने उनकी वाणी अथवा आचरण के माध्यम से प्रकट हुआ है। यहाँ हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं। एक भक्त को उन्होंने अचानक कह दिया, "मुझे पुकारना," जबकि सामान्यत: वे ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) को पुकारने का उपदेश दिया करती थीं। एक बार वे श्रीरामकृष्ण के भतीजे शिवराम के साथ कामारपुकुर से जयरामबाटी आ रही थीं। अचानक शिवराम चलते-चलते रुक गये। माँ ने जब कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि वे कौन हैं, यह बताने पर ही वे आगे बढ़ेंगे। पहले माँ ने कहा कि मैं तेरी चाची हूँ। लेकिन वे इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। अन्त में बाध्य होकर माँ को स्वीकार करना पड़ा कि वे काली हैं। पगली मामी उन्हें बहुत तंग किया करती थी। सामान्यत: वे सहन कर लेती थीं, लेकिन एक दिन उसे चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि मुझे अधिक तंग न किया करो। यदि मैं रुष्ट हो जाऊँगी तो तुझे ब्रह्मा, विष्णु, शिव कोई भी नहीं बचा सकेगा।

लेकिन माँ के दारिद्र्य के साथ उनका लक्ष्मी होना, निरक्षरता के साथ उनका सरस्वती होना, कैसे संभव है? वे इतनी भयभीता थीं उन्हें भयहरा काली कैसे माना जाय? उनके भीषण, बगला रूप पर पड़े मृदु स्वभाव के आवरण को कैसे हटाया जाय? यह एक समीचीन प्रश्न है। लेकिन इसका उत्तर भी कुछ गहराई से सोचने पर पाया जा सकता है। वस्तुत: निर्धनता, निरक्षरता एवं व्याकुलता के होते हुए भी माँ सारदा दूसरों को समृद्धि, ज्ञान एवं अभय प्रदान करने वाली थीं। लक्ष्मी श्रीदात्री देवी हैं। माँ के आशीर्वाद के कारण ही आज रामकृष्ण मिशन की सर्वांगीण प्रगति एवं समृद्धि दिखाई दे रही है। माँ सारदा ने भगवान से कातर प्रार्थना की थी कि श्रीरामकृष्ण के नाम से संसार त्याग करने वालों को भौतिक कष्ट न हो। इसी प्रार्थना का परिणाम हम इस संन्यासी संघ की उन्नति के रूप में देख रहे हैं। यही नहीं, माँ के आशीर्वाद जिन पर भी वर्षित हुए, उन सभी के जीवन में श्री एवं समृद्धि आयी है। इससे माँ सारदा के लक्ष्मी होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

माँ सारदा भले ही अनपढ़ रही हों, लेकिन उन्होंने न जाने कितने शिष्यों को सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था। यही नहीं, अनेक अवसरों पर उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की शंकाओं का समाधान किया था, —उन स्वामी विवेकानन्द का जो स्वयं महापण्डित एवं आध्यात्मिक अनुभूति संपन्न ऋषि थे। यही है माँ का सरस्वती स्वरूप। स्वयं सामान्य भयभीता नारी होते हुए भी माँ ने असंख्य शिष्य सन्तानों को यह कह कर सदा के लिए अभय प्रदान किया था, "बेटा, डरो मत! सदा याद रखो कि तुम्हारे पीछे एक माँ सदा विद्यमान है।" क्या यह भयहरा काली का लक्षण नहीं है? लेकिन माँ के बगला स्वरूप को पहचानना सबसे कठिन है। यह विरले अवसरों पर ही प्रकट हुआ था। तथा क्षण भर ही रहता था। लेकिन माँ की जीवनी का सजग

पाठक मृदुता के बीच माँ के इस भयावह, दण्डदाता स्वरूप को भी जान सकता है।

आइए, अब माँ के आध्यात्मिक स्वरूप के रहस्य का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करें ! माँ के स्वरूप में शंका पैदा करने वाली सबसे भ्रामात्मक बात है, माँ की राधू के प्रति तीव्र आसक्ति। इसे देखकर माँ की चिर संगिनी योगीन माँ भी भ्रमित हो गयी थीं। एक दिन इन्हीं शंकाओं में उलझी योगीन माँ गंगा के किनारे खड़ी थीं। अचानक उन्हें श्रीरामकृष्ण का दर्शन हुआ जो गंगा में बहते एक नवजात शिशु के शव को दिखाकर उन्हें कहने लगे कि जिस प्रकार इस मृत देह के स्पर्श से गंगा अपवित्र नहीं होती, उसी प्रकार सांसारिक आसक्तियों से माँ सारदा प्रभावित नहीं हो सकतीं। स्वयं माँ सारदा ने अपनी आपात प्रतीयमान आसक्ति का कारण बताते हुए कहा है कि जो लोग भगवद्‌चिन्तन करते हैं, उनका मन इतना सूक्ष्म एवं संवेदनशील हो जाता है कि जब वे उसे किसी वस्तु पर लगाते हैं, तो वह इस तीव्रता से उसे पकड़ता है कि वह आसक्ति प्रतीत होती है। माँ सारदा की राधू के प्रति आसक्ति सामान्य संसारी व्यक्ति की आसक्ति से भिन्न थी, यह तो इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि वे अन्त में उसे आसानी से क्षण भर में त्याग सकीं थीं।

थोड़ी गहराई में सोचने पर यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि माँ का रुदन एवं दुःख प्रकट करना आदि भी स्वयं के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए थे। उन्हें स्वयं तो कोई दुःख या अशान्ति नहीं थी। उनके संस्पर्श में आने पर सभी के दुःख,कष्ट दूर हो जाते थे। दूसरों को सांत्वना के दो शब्द कहना तो आसान है, लेकिन स्वेच्छा से दूसरों के कष्टों को अपने कन्धों पर ले पाना सभी के लिए सम्भव नहीं है। माँ में यह क्षमता थी कि वे दूसरों के कष्टों को अपने ऊपर लेकर दूसरों का बोझा कम कर देती थीं। वे अपने रुदन एवं आँसुओं से दूसरों का कष्ट लाघव कर देती थीं। वे मूर्तिमती सहन शीलता थीं एवं क्रोध, क्षोभ उनमें पानी पर खींची गयी रेखा के समान नाम मात्र को थे। और उनकी बालसुलभ रुचि एवं अरुचियाँ तो उनके चरित्र के माधुर्य को वर्धित ही करती हैं, कम नहीं, ठीक वैसे ही, जैसे एक काला तिल किसी सुन्दर चेहरे को और अधिक सुन्दर बना देता है। शिव महिम्न: स्तोत्र में ठीक ही कहा गया है कि जगत् कल्याण में समर्थ एवं रत महापुरुषों के दोष भी गुण सदृश एवं वन्दनीय हैं।।

"विकारोऽपिश्लाध्यो भुवनमय भंग व्यसनिनः।"

वस्तुतः माँ के व्यवहार एवं आचरण से उनके कुछ गुण-विशेष ही आवरित हुए थे, सभी नहीं। उनकी दया एवं करुणा, सभी प्राणियों के प्रति समान मातृवत प्रेम, अमानवी सहनशीलता एवं धैर्य, विनम्रता, सरलता एवं सम्पूर्ण निरहंकारिता कुछ ऐसे गुण हैं जो कभी आवरित नहीं हुए। कुछ गुणों को छिपाने एवं कुछ को व्यक्त करने के पीछे कोई न कोई गंभीर उद्देश्य निहित है ! यह मानो इस बात का द्योतक है कि साधुता का अर्थ अपने गुणों एवं विशेषताओं को अभिव्यक्त एवं प्रकट करना नहीं, बल्कि छिपाना है। हृदय की विशालता एवं दूसरों के दुःख कष्ट समझ पाना ही महानता का सच्चा मापदण्ड है। सच्चा सन्त वह नहीं है जो सबसे महान बन सके, बल्कि वह है जो अपने अहंकार को चूर-चूर कर सबसे छोटा बनने में भी न हिचकिचाए। माँ के लज्जा पटावृता रूप का यह विशेष सन्देश है।

इतना सब होते हुए भी माँ के वास्तविकस्वरूप को उनकी कृपा के बिना नहीं जाना जा सकता। वे महामाया स्वयं हैं —जिनमें ज्ञान को आवरित करने की भी शक्ति है, तथा जो कृपा परवश हो अज्ञान को दूर भी कर सकती हैं। अतः भक्त संतान की सदा उनसे यही प्रार्थना है कि वे स्वयं कृपापूर्वक अपने स्वरूप को प्रकट करें।

युवावर्ग और समाज

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द

[रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर से प्रकाशित 'मातृभूमि के प्रति हमारा कर्त्तव्य' नामक पुस्तिका से साभार गृहीत—सं०]

हमलोग स्वामी विवेकानन्द की पुकार पर यहाँ सम्मेलन में इकट्ठे हुए हैं। तुमलोग इस क्षेत्र के विभिन्न भागों से उनके सन्देश पर विचार-विमर्श करने के लिए और यह देखने के लिए यहाँ पर आये हो कि हमारे देश का पुनर्निर्माण करने के लिए क्या-क्या बातें आवश्यक हैं तथा उनको तुम किस प्रकार कार्यरूप दे सकोगे। तुम्हें मालूम है कि दो साल पहले, १९८० ई० में, हम लोगों ने बेलुड़मठ में एक सम्मेलन किया था—यह मूल्यांकन करने के लिए कि १९२६ ई० में, जो हमारा पहला सम्मेलन हुआ था तब से अब तक हम लोग स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों के अनुसार कितना कुछ कर पाये हैं। उसका उद्देश्य यह था कि हम वह जानकर अपनी भावी कार्य-नीति निश्चित कर लें। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हमारा देश आज एक संक्रान्ति के दौर से गुजर रहा है। हम लोगों ने उस सम्मेलन में इन सब बातों पर विचार किया था और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि श्रीरामकृष्णदेव का सन्देश देश में सर्वत्र फैला देना बहुत जरूरी है, क्योंकि संसार आज जिन समस्याओं का सामना कर रहा है, उन सबके समाधान के लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है; देश के कोने-कोने में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के भावों का प्रचार-प्रसार आज सबसे आवश्यक है, जिससे सब लोग उनकी जीवनी, विचारों और सन्देश से परिचित हो सकें।

यह भी तय किया गया था कि केवल प्रचार से काम नहीं बनेगा। बल्कि साथ ही हमें उनलोगों को भी ऊपर उठाना होगा, जो पीड़ित हैं और विषमताओं के शिकार हैं। उन्हें शिक्षा देनी होगी, ऐसा कुछ सिखाना होगा जिससे वे अपनी आर्थिक दशा को सुधार सकें और साथ ही आध्यात्मिक भावों से भी युक्त हो सकें। हमलोग उस सम्मेलन में इन्हीं निष्कर्षों पर आये थे। हमने यह भी तय किया था कि पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने के लिए हमें सामाजिक स्तर को गिराना नहीं है—ऐसा नहीं करना है कि सबको बराबर बनाने के लिए हम ऊँचे को काटकर नीचा कर दें, पर यह कि नीचे को उठाकर ऊपर ले जाएँ। समाज में असन्तुलन और विक्षोभ पैदा नहीं करना है। जो लोग नीचे गिरे हुए हैं, उनकी ओर विशेष ध्यान देकर उन्हें ऊपर उठा लेना है। इसके लिए हम सबने यही सोचा कि देश के आध्यात्मिक भाव को बिना बिगाड़े जो आदर्श हमें इस कार्य में सहायक होगा, वह है श्रीरामकृष्ण का वही सन्देश, जो जीव को शिव के रूप में देखने की शिक्षा देता है। हर व्यक्ति में उसी भगवान् को देखते हुए मानवता की नाना प्रकार से सेवा करते हुए हम केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही उन्नत नहीं होंगे, बल्कि हम देश को भी विभिन्न प्रकार से शिक्षा, राजनीति, वाणिज्य एवं अन्य क्षेत्रों में उन्नत बना देंगे। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि श्रीरामकृष्ण ने विश्व को जो सन्देश दिया, स्वामी विवेकानन्द ने उसी की बड़े गर्व के साथ घोषणा की। उन्होंने कहा, "मेरे पास सबके लिए एक महान् सन्देश है, और यदि भगवान ने मुझे समय दिया, तो दुनिया के कोने-कोने में इस महान् सत्य का प्रचार करूँगा।" और वह सत्य यह था कि 'जीव शिव ही है।' यह सत्य मात्र भारतवासियों का ही कल्याण नहीं साधित करेगा, अपितु पूरे विश्व की सहायता करेगा,

क्योंकि आज सारा संसार ही एक प्रबल विक्षोभ की अवस्था में से गुजर रहा है।

अब, पिछड़े लोगों को ऊपर उठाने का यह जो कार्य है, उसके लिए स्वामीजी ने देश के युवकों पर अपनी आशा की निगाह रखी थी। अपने कई व्याख्यानों में उन्होंने यह कहा कि उनकी आशा युवकों पर है। अतएव भारत का समूचा युवावर्ग इस महान् व्यक्ति की आशा को पूर्ण करने के लिए सामने आवे। वह पहले समझ ले कि स्वामीजी ने क्या कहा है तथा देश को फिर से उठाने के लिए उसे निश्चित रूप से क्या करना है। तुमलोग यहाँ कुछ दिन एक साथ रहोगे, इन समस्याओं पर चर्चा करोगे, स्वामीजी के सन्देश पर विचार-विनिमय करोगे तथा एक निष्कर्ष पर पहुँचकर कार्यप्रणाली ठीक करोगे, जिसके अनुसार तुम वापस लौटने के बाद अपने-अपने क्षेत्र में देश की उन्नति के लिए कार्य कर सको। यही इस सम्मेलन का उद्देश्य है। मैं आशा करता हूँ कि तुमलोग उस उद्देश्य की पूर्ति करोगे।

आजकल हम बहुधा सुना करते हैं कि देश का पतन उसके धर्म के कारण हुआ है, धर्म पर बहुत बल देने के कारण देश बिगड़ गया, यदि धर्म पर उतना ज़ोर न दिया जाता, तो देश का भला होता। पर जिनलोगों ने यह बात फैलायी, वे नहीं जानते थे कि धर्म वास्तव में क्या है। वे लोग कुछ सामाजिक रूढ़ियों को, कुछ अंधविश्वासों को धर्म समझते थे। पर वह तो धर्म नहीं था वह तो धर्म पर आकर जम गया बुरादा था, जैसे लोहे पर जंग जम जाता है। पहले जंग को साफ करो तो लोहा चमकने लगेगा। इसी प्रकार धर्म पर कई ऐसे अन्धविश्वास और कुसंस्कार आकर चिपक गये हैं, जो धर्म नहीं हैं। हम गलती से इन्हें धर्म मान लेते हैं। पर रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द आकर हमें दाने और भूसे का अन्तर समझा देते हैं। वे बताते हैं कि धर्म यथार्थतः क्या है और क्या नहीं है। यदि सचमुच धर्म रहे, तो कोई पतन नहीं हो सकता। यथार्थ धर्म के पालन से किसी प्रकार की गिरावट सम्भव ही नहीं है। हम सच्चे धर्म का पालन नहीं कर रहे हैं, इसीलिए जान लेना होगा कि धर्म वास्तव में क्या है और धर्म के वे सिद्धांत कौन-से हैं, जो हमारी उन्नति में सहायक होंगे। हमें अधिक विचारशील होना होगा। केवल यह कहते रहना कि धर्म ने हमें बिगाड़ दिया है और हमें पता नहीं कि उसने किस प्रकार बिगाड़ा है, किसी काम का न होगा। क्या तुमने देश के विगत तीन हजार साल का इतिहास पढ़ा है? हम केवल धर्म की ही बदौलत इस लम्बी अवधि में भी एक राष्ट्र के रूप में बचे रहे हैं जबकि दूसरे महान राष्ट्र पृथ्वी से लुप्त हो गये। धर्म में ऐसी कोई विलक्षणता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था "यदि धर्म ठीक है, तो सब कुछ ठीक है।" विशेषकर भारत में, धर्म के आधार के बिना कुछ नहीं किया जा सकता। तो, यह जो कहा जाता है कि धर्म कुछ नहीं है, यह सब बकवास है, केवल थोथी बात है। हमें करना यह है कि धर्म का जो गलत रूप लोगों के सामने रखा गया, उसे दूर करना है। हम ऐसा नहीं करेंगे तो विनाश अवश्यम्भावी है। हम अपने धर्म या अपनी धार्मिक दृढता को गँवाने का जोखिम नहीं उठा सकते ये दोनों बातें नितान्त आवश्यक हैं और हमारी संस्कृति का मूलभूत स्वरूप हैं। अतएव इस सम्मेलन में आ[ए] युवकों को हमें अपनी संस्कृति की सही समझ देनी है जिससे वे उसे आत्मसात् कर भारत के सच्चे नागरि[क] बनें—किसी अन्य देश के नहीं। वे इन समस्याओं प[र] विचार करें और अपनी कठिनाइयों को संन्यासियों ए[वं] गुरुजनों के समक्ष रखें तथा स्वामी विवेकानन्द [को] समझने की चेष्टा करें। स्वामीजी के ग्रन्थों को अच्[छी] तरह से पढो, देखोगे उससे दूसरों के लिए काम करने [की] प्रेरणा मिलेगी। यह प्रेरणा ही नितान्त प्रयोजनीय है [।] सुख दूसरों के लिए काम करने में निहित है। अतएव [यदि] हम दूसरों के लिए काम कर सकें, तो हमें सुख मिले[गा] और वही हमारी आध्यात्मिक प्रगति होगी।

मैं आज के इस अवसर पर स्वामी विवेकान[न्द से] यही प्रार्थना करता हूँ कि वे तुम लोगों पर [अपने] आशीर्वाद का वर्षण करें तथा तुम्हारे सहायक [हों] जिससे तुम उन्हें ठीक-ठीक समझ सको एवं [उनके] निर्देशानुसार भारत का नवनिर्माण कर सको।

युवावर्ग के लिए पंचशील

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची।

अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के उपलक्ष में गत वर्ष भारत सरकार ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम उठाया है, वह है स्वामी विवेकानन्द के जन्म दिन १२ जनवरी को प्रति-वर्ष राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में समस्त राष्ट्र में बड़े पैमाने पर मनाने का निर्देश। इसका कारण बताते हुए भारत सरकार ने कहा है—"चूँकि यह अनुभव किया गया कि स्वामी विवेकानन्द का दर्शन, तथा जिन आदर्शों का उन्होंने स्वयं पालन किया तथा जिनका उपदेश उन्होंने दिया, वे भारतीय युवा वर्ग के लिए प्रेरणा का एक महान स्रोत बन सकते हैं।" इस उपलक्ष में भारत सरकार ने राष्ट्रीय युवा सप्ताह मनाने के लिए जिस कार्यक्रम को सम्पादित करने का निर्देश दिया, उसमें भी स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों पर विचार-विमर्श को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

भारत सरकार का यह कदम सर्वथा सराहनीय है क्योंकि चिरयुवा स्वामी विवेकानन्द युवावर्ग के लिए चिर आदर्श स्वरूप हैं। अपनी युवावस्था में ही स्वामी विवेकानन्द ने महानता के चरम शिखर को छुआ तथा ३९ वर्ष की आयु में युवा के रूप में उन्होंने अपने भौतिक शरीर को त्याग दिया। भौतिक रूप में तथा आदर्शों के रूप में भी वे चिर युवा रहे। सम्पूर्ण 'विवेकानन्द साहित्य, का हम यदि अध्ययन करें तो पायेंगे कि उन्होंने अधिकांश पत्र युवकों को ही लिखे थे, अधिकांश वार्तालाप श्री शरतचन्द्र चक्रवर्ती आदि युवकों से ही किये थे, अमेरिका से भारत लौटने पर उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे (जो 'भारत में विवेकानन्द' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में भी संकलित हैं,) उनके अधिकांश श्रोता युवक ही थे, उन्हीं से अनुप्राणित होकर स्वामी रामतीर्थ, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों का निर्माण हुआ था। महात्मा गाँधी ने लिखा था—"स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों को पढ़ने के बाद मेरी देशभक्ति सौ गुनी बढ़ गयी।" सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा था—"स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को पढ़कर ही मैंने अपना जीवन देश के लिए समर्पित कर दिया। आज यदि वे होते तो मैं उनके चरणतलों रहता।" लाहौर में स्वामी विवेकानन्द के 'वेदान्त' विषयक भाषण को सुनने के तुरन्त बाद स्वामी रामतीर्थ ने कॉलेज के व्याख्याता के पद को त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। स्वामी विवेकानन्द के तेजस्वी व्याख्यानों को सुन तथा पढ़कर कई युवकों ने देश की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये। एक समय था जब ब्रिटिश सरकार ने स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, जो अधिकतर क्रांतिकारी युवकों के घरों में पायी जाती थीं।

वर्तमान समय में तो स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों की प्रासंगकिता और भी बढ़ गयी है, विशेषकर भारतीय युवा वर्ग के लिए। भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी के अनुसार, "हमारा देश युवा है चूँकि ७१% से अधिक जनसंख्या ३५ वर्ष से कम वर्ष के युवा वर्ग की है।" अत: युवा देश के लिए एक चिर युवा संन्यासी को नेता के रूप में स्वीकारना सर्वथा उचित है। आज भारतीय युवावर्ग के समक्ष तीन महान् समस्याएँ उपस्थित हैं :—

(१) बेरोजगारी, (२) धर्म पर अविश्वास तथा (३) आदर्श के अभाव में नैतिक तथा मानसिक संघर्ष। क्या यह कम महत्वपूर्ण बात है कि स्वामी विवेकानन्द

को स्वयं अपने जीवन में इन तीनों समस्याओं का सामना करना पड़ा था। उस काल में जब कि कॉलेज का स्नातक होना एक विरल बात थी, युवा नरेन्द्र नाथ दत्त को (जो बाद में स्वामी विवेकानन्द बने), बी० ए० पास करने के उपरान्त 'लॉ' की पढ़ाई के बाद भी नौकरी के लिए दर-दर भटकना पड़ा था। स्पेन्सर, हेगल, काण्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों की पुस्तकों को पढ़ने के बाद स्वामी विवेकानन्द संशयवादी हो उठे थे, किसी भी महात्मा से पहला प्रश्न वे पूछते—"क्या आपने ईश्वर को देखा है?" यही प्रश्न उन्होंने श्रीराम-कृष्ण परमहंस से भी पूछा—और जब श्रीरामकृष्ण से उत्तर पाया—"हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है, जैसे तुझे देख रहा हूँ उससे अधिक प्रत्यक्ष रूप से मैं उनका दर्शन करता हूँ और तुझे भी उनके दर्शन करा सकता हूँ।" इसके बाद ही उन्होंने आध्यात्मिक पथ पर अपना जीवन उत्सर्ग किया। उसके बाद आया नैतिक तथा मानसिक समस्याओं का एक तूफान, जिसका विशद् वर्णन उनके तत्कालीन सहपाठी—श्री ब्रजेन्द्रनाथ शील ने किया है, जो स्वामी विवेकानन्द की अँग्रेजी जीवनी (Life of Swami Vivekananda by his Eastern & Western Disciples) में उपलब्ध है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्दजी ने वर्तमान युवावर्ग की समस्याओं का स्वयं अनुभव किया था, और इसीलिए उनके उपदेश भारतीय युवावर्ग के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं।

कौन से हैं वे उपदेश तथा आदर्श? सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य (दश खण्डों में) में व्याप्त इन उप-देशों को हम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं जो युवावर्ग के लिए मानो पंचशील के सिद्धान्त स्वरूप हैं:—

१. आत्मविश्वास (Self confideuce)
२. आत्म-संयम (Self control)
३. आत्म विस्मृति (Self abnegation)
४. आत्म-त्याग (Self sacrifice)
५. आत्म-साक्षात्कार (Self realisation)

१. आत्म-विश्वास—स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—"पुराना धर्म कहता था—वह नास्तिक है जो भगवान् पर विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है—वह नास्तिक है जो अपने आप पर विश्वास नहीं रखता।' बार-बार वे युवकों को अपने आप पर विश्वास रखने के लिए तथा नचिकेता के समान श्रद्धावान बनने के लिए कहते हैं। अपने युवा शिष्य शरतचन्द्र चक्रवर्ती से वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा था—"बहुत प्राचीन समय से औरों ने तुमको बतलाया कि तुम हीन हो, तुममें कोई शक्ति नहीं है। और तुम भी यह सुन कर सहस्रों वर्षों से समझने लगे हो कि हम हीन हैं—निकम्मे हैं। ऐसा ध्यान करते-करते तुम वैसे ही बन गये हो। (अपना शरीर दिखलाकर) यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है, परन्तु मैंने कभी ऐसी चिन्ता नहीं की।" इसी कारण उन्होंने निःसहाय होते हुए भी पाश्चात्य देशों पर विजय प्राप्त की। 'आत्म-विश्वास' का मतलब क्या है? स्वामी विवेकानन्द ने इसे सम-झाते हुए कहा था, सच्चे अर्थों में इसका मतलब है, भीतर में अवस्थित उस सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या उच्च आत्मा पर विश्वास करना। किन्तु मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार से व्याप्त सूक्ष्म 'मैं' पर भी यदि विश्वास हो तो वह भी अच्छा है चूँकि धीरे-धीरे यह व्यक्ति को उच्चतर विश्वास की ओर अग्रसर करेगा। स्वामी विवेकानन्द कथित इस आत्म-विश्वास के कई पहलू हैं:—

(क) 'पाप' का अस्वीकार—सिंह तथा भेड़ की कहानी सुनाते हुए स्वामी विवेकानन्द युवकों से कहते हैं—"तुम सिंहतुल्य हो, भूल जाओ कि तुम भेंड़ हो, 'पापी' हो।' "वेदान्त पाप की बात नहीं मानता, वह केवल 'भूल' की बात स्वीकार करता है और उसके मत से, तुम सबसे बड़ी भूल तो तब करते हो, जब तुम कहते हो, "मैं कमजोर हूँ, मैं पापी हूँ, एक दुःखी जीव हूँ, मुझमें कुछ भी शक्ति नहीं, मुझमें कुछ भी करने की ताकत नहीं।" स्वामीजी का यह सन्देश उनके दर्शन

पर आधारित है कि "प्रत्येक व्यक्ति में अव्यक्त ब्रह्म या आत्मा विराजमान है।"

(ख) पुरुषार्थ :- स्वामी विवेकानन्द युवकों को प्रारब्ध के भरोसे न बैठकर पुरुषार्थ पर विशेष जोर देने के लिए कहते हैं:—"खड़े होओ, साहसी बनो, शक्तिमान होओ। सारा उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो और जान लो कि तुम्हीं अपने भाग्य के विधाता हो। तुम्हें जो कुछ बल और सहायता चाहिए, सब तुम्हारे ही भीतर है। अतएव अपना भविष्य तुम स्वयं गढ़ो।' स्वामी विवेकानन्द का यह उपदेश उनके कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने स्वयं के कर्म के अनुसार ही इस जन्म में या अगले जन्म में फल पाता है। अतएव जो फल प्राप्त होता है वह स्वयं के किये हुए वर्तमान अथवा पूर्वजन्मों के कर्मों का ही फल है। यदि वर्तमान भूतकाल के कार्यों से बना है, तो भविष्य हमारे वर्तमान के कार्यों पर निर्भर है। अतः हम स्वयं अपने भविष्य के निर्माता हैं।

(ग) साहस—स्वामीजी कहते हैं—"मेरे साहसी युवको, यह विश्वास रखो कि तुम्हीं सबकुछ हो—महान-कार्य करने के लिए इस धरती पर आये हो। गीदड़-घुड़कियों से भयभीत न हो जाना—नहीं, चाहे वज्र भी गिरे, तो भी नीडर हो खड़े हो जाना और कार्य में लग जाना।" "साहसी बनो, साहसी बनो, मनुष्य तो एकबार ही मरता है। मेरे शिष्य कायर न हों। मुझे कायरता से घृणा है।"

(घ) बल—स्वामीजी युवकों में चाहते थे बल—शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक। वे कहते हैं—"तुम क्यों रोते हो बन्धु? तुम्हीं में तो सारी शक्ति निहित है। ऐ महान, अपनी सर्वशक्तिमान प्रकृति को उद्बुद्ध करो; देखोगे, यह सारी दुनिया तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगी। एक मात्र आत्मा ही शासन करती है, जड़ पदार्थ क्या शासन करेगा? अपने को शरीर से अभिन्न समझनेवाले मूर्ख व्यक्ति ही करुण स्वर से चिल्लाते हैं, हम दुर्बल हैं, हम दुर्बल हैं। आज देश को आवश्यकता है साहस और वैज्ञानिक प्रतिभा की। हम चाहते हैं—प्रबल साहस, प्रचण्ड शक्ति और अदम्य उत्साह।" युवतियों से भी स्वामीजी का आग्रह था कि वे अपने आप को अबला न समझें। स्वामी विवेकानन्द ऐसे प्रथम धर्मनेता हैं—जिन्होंने शारीरिक बल पर भी अत्यधिक महत्व दिया है। वे कहते हैं—सबसे पहले हमारे नवयुवकों को बली होना चाहिए। धर्म फिर बाद में आएगा। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। जब तुम्हारी माँसपेशियाँ कुछ मजबूत हो जायेंगी, तब तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। जब तुम्हारे खून में कुछ जोर आ जायगा, तब तुम कृष्ण की महान् प्रतिभा और प्रचण्ड शक्ति को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे।" "आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है, वह है लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु—प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जिसका अवरोध दुनिया की कोई ताकत न कर सके।"

(ङ) आशावादिता—स्वामी विवेकानन्द आशावादिता के विश्वासी थे। वे कहते हैं—निराशा धर्म तो नहीं है—वह और चाहे जो कुछ हो। सर्वदा प्रसन्न और हँसमुख रहना तुम्हें ईश्वर के अधिक निकट ले जाएगा—किसी प्रार्थना की भी अपेक्षा अधिक निकट।"

(२) आत्म संयम—स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे—"Be and Make" "पहले 'मनुष्य' बनो फिर औरों को 'मनुष्य' बनने के लिए सहायता करो।" "हम 'मनुष्य' बनानेवाला धर्म ही चाहते हैं। हम 'मनुष्य' बनानेवाले सिद्धांत ही चाहते हैं। हम सर्वत्र सभी क्षेत्रों में, 'मनुष्य' बनानेवाली शिक्षा ही चाहते हैं।" 'मनुष्य' बनने के लिए प्रथम सोपान है—'आत्म-संयम'। स्वामीजी कहते हैं—"जिसने अपने ऊपर संयम कर लिया है, वह बाहर की किसी भी वस्तु द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सकता; उसके लिए गुलामी फिर और नहीं रह जाती। उसका मन मुक्त हो गया है; केवल ऐसा व्यक्ति ही संसार में आदर्श रूप से रहने योग्य है। इस 'आत्म-संयम' के फलस्वरूप जो चरित्र-निर्माण होता है, उसके आयाम हैं—पवित्रता, धैर्य, प्रेम, ब्रह्मचर्य,

आज्ञाकारिता, सेवापरायणता, शांत स्वभाव, परिश्रमी होना इत्यादि। वे कहते हैं—यदि भारत में इस समय सबसे बड़ा कोई पाप है तो वह है गुलामी। हर एक व्यक्ति शासन करना चाहता है, आदेश पालन करना कोई नहीं चाहता, और इसका कारण है—पुरातन काल की उस अद्भुत ब्रह्मचर्य-प्रणाली का अभाव। पहले आदेश पालन करना सीखो, फिर शासन करने की शक्ति अपनेआप आ जाएगी "हम जितना ही अधिक शांत होंगे, हमारे स्नायु जितने ही कम उत्तेजित होंगे, हम उतना ही अधिक प्रेम कर सकेंगे और हमारा कार्य उतना ही अच्छा होगा।"

युवतियों से भी वे आशा रखते थे कि वे सीता, सावित्री, दमयन्ती को अपना आदर्श मानकर पवित्र जीवन यापन करेंगी।

(३)**आत्म-विस्मरण**—स्वामीजी के अनुसार "स्वार्थ-परता ही अनीति है और स्वार्थहीनता ही नीति।" उनके अनुसार "विकास ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु। प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकोच।" सेवा करने के लिए भी आत्म-विस्मरण की अत्यंत आवश्यकता है। वे कहते हैं—"जो मानव-जाति की सहायता करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले अपने सुख और दुःख, नाम और यश, तथा सर्वविध स्वार्थी भावनाओं की एक गठरी बनाकर उसे समुद्र में फेंक दें और तब भगवान् के पास आयें। यही सारे धर्म-प्रवर्तकों ने कहा और किया है।" "हमारा सबसे उत्तम कार्य तब होता है, हमारा सबसे अधिक प्रभाव तब पड़ता है, जब हममें स्वार्थ भावना नहीं रहती।" इस आत्म-विस्मृति के लिए आह्वान करते हुए एक युवती (भगिनी निवेदिता) को उन्होंने लिखा था—"संसार को आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जिसके हृदय में निःस्वार्थ प्रेम प्रज्ज्वलित हो रहा है। उस प्रेम से प्रत्येक शब्द का वज्रपाती प्रभाव पड़ेगा। जागो, ऐ महान् आत्माओ, जागो! संसार दुःखाग्नि से जला जा रहा है। क्या तुम सोये रह सकते हो?"

स्वामीजी के अनुसार "निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें इस निःस्वार्थता की मात्रा अधिक है, वह अधिक आध्यात्मिकतासम्पन्न है और शिव के अधिक निकट है। और यदि कोई स्वार्थी है, तो फिर चाहे उसने सारे मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थों में ही क्यों न घूमा हो, अपने को चीते के समान क्यों न रंग डाला हो, परन्तु फिर भी वह शिव से बहुत दूर है।" इसलिए वे कहते हैं—"सारी उपासना का सार है—पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारंभिक है।" स्वामीजी ने अपने एक युवा गुरुभाई (स्वामी अखण्डानन्दजी) को इसी 'शिव ज्ञान से जीवसेवा करने पर बल देते हुए लिखा था—"तुमने पढ़ा है 'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव'—अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो—परन्तु मैं कहता हूँ, दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव"—गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुःखी—इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।" स्वामीजी इस 'आत्म-विस्मृति' पर इतना अधिक बल देते हैं, कि केवल स्वयं की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना भी स्वार्थपरता मानते हैं। वे कहते हैं—"दूसरों की मुक्ति के लिए यदि तुम्हें नरकों में भी जाना पड़े तो सहर्ष जाओ। धरती पर ऐसी कोई मुक्ति नहीं, जिसे मैं अपना कह सकूँ।"

युवतियों से भी स्वामीजी आशा करते थे कि वे केवल अपनी मुक्ति का प्रयास न कर दूसरों की मुक्ति के लिए—दूसरों की सेवा के लिए आत्म नियोग करेंगी। उन्होंने अमेरिका से अपने गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द को एक पत्र में लिखा था "गौरी माँ कहाँ हैं? हजारों गौरी माँ की आवश्यकता है—उनके जैसे noble stirring spirit (महान् एवं तेजोमय भाव) की।' परवर्तीकाल में गौरी माँ ने युवतियों को शिक्षा देने का कार्य भी प्रारम्भ किया था एवं एक आश्रम की स्थापना भी की थी

जिसे स्वामीजी ने जाकर देखा था और अपना संतोष व्यक्त किया था।

(४) आत्म-त्याग— स्वामीजी के अनुसार "महान् कार्य महान् त्याग से ही सम्पन्न हो सकते हैं।" महान् बनने के लिए भी त्याग की आवश्यकता पर बल देते हुए वे कहते हैं—"महान् बनो। त्याग के बिना कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस जगत की सृष्टि के लिए स्वयं इन विराट् पुरुष भगवान को भी अपनी बलि देनी पड़ी। आओ, अपने ऐश-आरामों, नाम-यश, ऐश्वर्य यहाँ तक कि अपने जीवन को भी निछावर कर मानव-शृंखला का एक सेतु निर्माण कर डालो, ताकि उस पर से होकर लाखों जीवात्माएँ इस भवसागर को पार कर लें। शुभ की समस्त शक्तियों को एक केन्द्र में ले आओ। यह न देखो कि तुम किस झण्डे के नीचे आगे बढ़ रहे हो।"

महान्-चरित्र तथा महान् कार्य दोनों के लिए आत्म-त्याग ही मूल मंत्र है। स्वामी जी कहते हैं—"सार बात है—त्याग। त्याग के बिना कोई भी पूरे हृदय से दूसरों के लिए कार्य नहीं कर सकता।" "भारत को कम-से-कम अपने सहस्र तरुणों की बलि की आवश्यकता है; पर ध्यान दो—'मनुष्यों की', 'पशुओं' की नहीं।" आत्म-त्याग के लिए युवकों से आह्वान करते हुए वे कहते हैं—"ऐ नवयुवको, मैं गरीबों, मूर्खों और उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और अथक प्रयत्न को थाती के तौर पर तुम्हें सौंपता हूँ। जाओ, इसी क्षण जाओ उस पार्थसारथि के मन्दिर में, जो गोकुल में दीन-दरिद्र, ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्ध-अवतार में अमीरों का न्योता अस्वीकार कर एक वारांगना का न्योता स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने जीवन की बलि दो—उन दीन पतित और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान् युग-युग में अवतार लिया करते हैं और जिन्हें वे सबसे अधिक प्रेम करते हैं।"

(५) आत्म साक्षात्कार—युवावर्ग के लिए स्वामीजी चरम उद्देश्य रखते हैं—'आत्म-साक्षात्कार' का। यह उपदेश उनके दर्शन पर आधारित है जो संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके इस अन्तःस्थ ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान इनमें से एक अथवा एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान पद्धति, शास्त्र, मंदिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण अंग-प्रत्यंग मात्र हैं।"

स्वामी जी बार-बार युवावर्ग से आह्वान करते हैं—"उठो जागो, लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।" जीवन की साधारण सफलताओं या तनिक समाजसेवा से संतुष्ट न होकर, स्वामीजी युवावर्ग को आह्वान करते हैं—आगे बढ़ने का, चरम लक्ष्य की प्राप्ति तक न रुकने का। गत वर्ष राष्ट्रीय युवा दिवस समारोह में १८ जनवरी को भारत के प्रधानमंत्री ने भी शायद इसीलिए कहा था—"Youth of today have a tendency to rise to a certain level and relax. what the youths lack is extra push that would carry them beyond" वर्तमान के युवावर्ग का यह स्वभाव है कि वे कुछ शिखर तक ऊँचे उठते हैं, फिर ढीले पड़ जाते हैं। युवावर्ग में यह कमी है कि उनमें वह अत्यधिक उत्साह या परिश्रम नहीं जो उन्हें महानता के सर्वोत्तम शिखर तक पहुँचा दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द युवावर्ग से आह्वान करते हैं—अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करने तथा दूसरों की सेवा करने का अन्य समाजसेवियों की भाँति वे केवल समाज सुधार पर बल नहीं देते और अन्य धर्म प्रचारकों की तरह केवल मुक्ति के लिए प्रयत्न करने पर बल नहीं देते, वरन् दोनों आदर्शों पर समान रूप से बल देते हैं। इसी दोहरे मंत्र आत्मनो

मोक्षार्थं जगद्धितायच को आदर्श रखकर ही स्वामीजी ने युवकों के लिए रामकृष्ण संघ की स्थापना की थी। बाद में युवतियों के लिए सारदा मठ की भी स्थापना हुई है। आज अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के उपलक्ष में स्वामीजी मानो आह्वान कर रहे हैं—युवक तथा युवतियों को—रामकृष्ण संघ तथा सारदा मठ में अपना जीवन समर्पित करने के लिए। एक युवक को स्वामीजी ने अपने पत्र में जो लिखा था, वह वाणी आज भी युवक-युवतियों के समक्ष एक महान चुनौती के रूप में गूँज रही है—

"कौन लोग श्रीरामकृष्ण का झंडा उठायेंगे और संसार की मुक्ति के लिए अभियान करेंगे? अपने नाम और यश, वैभव और सुख-भोग, बल्कि लोक या पर-लोक की समस्त आशाओं का परित्याग कर अधोगति के ज्वार को कौन थामेंगे? कुछ थोड़े लोग इस में कूद पड़े हैं और अपनी बलि दी है। हमें उनकी ही भाँति कई हजार लोग चाहिए। और वे आएँगे। जय हो उनकी, जिन्हें प्रभु ने इसके लिए चुना है।"

*

ब्रह्मचर्य

—स्वामी त्रिगुणातीतानन्द

[प्रस्तुत निबन्ध भगवान श्रीरामकृष्ण के लीला पार्षद् और अंतरंग शिष्य श्रीमत् स्वामी त्रिगुणातीतानन्द द्वारा रचित लेख का हिन्दी रूपान्तर है। यह रूपान्तर अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित 'द मैसेज ऑफ आवर मास्टर' नामक पुस्तक से किया गया है। अनुवादक हैं— श्री रामेश्वर यादव, पटना।]

आचार्य शंकर ने सत्य ही कहा है कि मानव-जन्म दुर्लभ है। मानव-शरीर सबसे श्रेष्ठ शरीर है और मानव ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, क्योंकि इस शरीर में ही मुक्ति तथा ज्ञान प्राप्त करने का महान अवसर प्राप्त होता है। अन्य सभी जीवों को, चाहे वे देवता या देव-दूत ही क्यों न हों, इस संसार में मानव-शरीर के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए आना ही पड़ता है। अतएव, मानव-जीवन मिलना सौभाग्य की बात है। और हम मूर्खतावश इस विशेषाधिकार की निन्दा कर रहे हैं। इस विशेषाधिकार का मूल्य समझे बिना अपने बुरे कर्मों के द्वारा हम अकथनीय दुःखों की प्राप्ति कर रहे हैं। नियति की इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी? क्या उससे बड़ा मूर्ख कोई होगा जो इस दुर्लभ अवसर को पाकर भी सांसारिक वस्तुओं के पीछे भागता है और ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं करता है? ज्ञान प्राप्त करने के बदले दिनोंदिन हम अज्ञान के गहरे गर्त में गिरते जा रहे हैं। कारण क्या है? मानव जो रोग-मुक्त था, इच्छानुसार कार्य करता था और "मुझे मृत्यु का कोई डर नहीं हैं" आदि सत्यों की निःसन्देह घोषणा करता था, वह आज हजारों प्रकार के भयों से क्यों आक्रांत है? विक्षेपकारी विचारों से वह क्यों चिन्तित है और असंतोष के अथाह सागर में क्यों डूबता जा रहा है? कारण क्या है? इसका कारण ब्रह्मचर्य का अभाव है। एक समय था जब नचिकेता और शुकदेव जैसे बालक अपने बुद्धिमत्तापूर्ण जबाबों के द्वारा बड़े-बड़े ज्ञानियों को स्तम्भित कर देते थे। वही समाज आज इस मोड़ पर क्यों पहुँच गया है? इसका कारण यही हैं कि ब्रह्मचर्य के अभाव के चलते हम प्राचीन तेज, प्राचीन शक्ति को खो बैठे हैं। बिना ब्रह्मचर्य के किसी भी महान चीज की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य क्या है ? यह काम-शक्ति का संरक्षण है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, इहलौकिक हो या पारलौकिक, यदि सफलता की प्राप्ति करनी है, तो वीर्य-शक्ति का संरक्षण अत्यावश्यक है। बिना ब्रह्मचर्य के तुम न पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कर सकते हो, न दूसरों की भलाई कर सकते हो और न आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हो। प्रसिद्ध चिकित्सक डा० निकोल्स ने कहा है—"प्रजननेंद्रिय के दुरुपयोग को बंद करने पर शारीरिक और मानसिक बल तथा आध्यात्मिक-जीवन प्राप्त होता है।" अतएव जीवन के किसी भी क्षेत्र में, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, सफलता की कोई आशा नहीं है, जब तक कि मानव पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता है। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "जब कोई व्यक्ति कामना-शक्ति के रक्षण में सफल हो जाता है तो उसकी बुद्धि में आत्मा प्रतिबिम्बित हो जाती है, जैसे कलई किये गये काँच में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस व्यक्ति के हृदय में आत्मा प्रतिबिम्बित होती है, वह सबकुछ कर सकता है। वह जिस किसी कार्य में संलग्न होता है उसमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करता है।" अतएव ब्रह्मचर्य के बिना हमारा जीवन व्यर्थ है।

शब्दकोष के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ जीवन की वह अवस्था या आश्रम है जिसमें कोई व्यक्ति ब्रह्म या वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रवेश करता है। वेदाध्ययन साधारणतः बचपन में ही किया जाता है, अतएव चार आश्रमों में पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश सभी के लिए अनिवार्य है। यह अनिवार्य क्यों है ? क्योंकि सभी महान चारित्रिक गुणों का विकास जीवन के इसी काल में होता है। आजकल अनेक देशों में बच्चों को व्यावसायिक शिक्षा देना एक फैशन बन गया है। लेकिन आध्यात्मिक मूल्यों का क्या कहना, नैतिक मूल्यों के भी विकास के लिए कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। प्राचीन काल में हमारे पास यह रिवाज नहीं था। सर्वप्रथम चरित्र-निर्माण पर ध्यान दिया जाता था; उसके बाद आध्यात्मिक ज्ञान दिया जाता था और अंत में व्यावसायिक प्रशिक्षण की बारी आती थी। उस समय सभी जानते थे कि चरित्र और ज्ञान ही सबसे बड़ी आवश्यकता है, रुपया-पैसा या अन्य पदार्थ बाद में उनलोगों को अपने आप प्राप्त हो जायगा जिनके पास ज्ञान और चरित्र है। ज्ञान और चरित्र, धन के अधीन नहीं हैं।

यह आश्रम इसीलिए अनिवार्य है क्योंकि अच्छे गुणों का विकास इसी समय में होता है। महर्षि मनु कहते हैं, "चारित्रिक बल की वृद्धि करने के लिए ब्रह्मचारी गुरु के घर में रहते हुए अपनी काम-वासना पर पूर्ण नियंत्रण करके इनका (गुरु-सेवा, मंत्र-जाप, तप, अहिंसा, सहिष्णुता आदि) अभ्यास करें।"

जीवन की यह अवस्था अन्य अवस्थाओं के लिए आधार स्वरूप है। गृहस्थावस्था, वानप्रस्थावस्था, संन्यासावस्था सभी ब्रह्मचर्य पर ही पूर्णतः निर्भर हैं। जैसे कोई भवन, चाहे कितना ही बड़ा और सुन्दर क्यों न हो, स्थायी नहीं होगा, यदि उसका निर्माण खिसकने वाली जमीन पर किया गया हो, उसी प्रकार किसी भी आश्रम के कर्त्तव्यों का निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है, अगर ब्रह्मचर्यावस्था का उपयोग ठीक-ठीक नहीं किया गया हो और यहाँ तक कि इस स्थिति में कोई अन्य आश्रम में प्रवेश के लायक भी नहीं है।

भगवान श्रीमद्भागवत में कहते हैं, "जब ब्रह्मचारी तपोबल से अग्नि के समान प्रदीप्त हो गया हो, उसके सभी पाप और विगत बुरी प्रवृत्तियाँ भस्मीभूत हो गयी हों और उसके हृदय में मेरे लिए प्रेम जागृत होगया हो, तब गुरु उसकी परीक्षा लेंगे। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर शिष्य गुरु-दक्षिणा देगा और उनकी आज्ञा से पवित्र स्नान करेगा। दूसरे जन्म को प्राप्त करने वाले ये लोग अपनी पसंद के अनुसार या तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे, या वानप्रस्थाश्रम में या सीधे संन्यासाश्रम में।" अतः हम देखते हैं कि ब्रह्मचर्याश्रम से सबको गुजरना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य इतनी महान शक्ति है, इतना अनिवार्य गुण

है कि जीवन के प्रथम आश्रम में ही इसे सीमित न कर प्रत्येक आश्रम में इसका पालन करना चाहिए। यह गलत है कि सिर्फ बचपन में ही इसका पालन करना चाहिए। जीवन की आधार-शिला रखने मात्र से ही इसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, जीवन-सीढ़ी के प्रथम सोपान (Step) पर चढ़ने के साथ ही इसका अन्त नहीं हो जाता। यह जीवन-भर कार्य करता है। ब्रह्मचर्य के बिना चरित्र निर्माण करना असंभव है जैसे कि बिना गारे (Mortar) का भवन-निर्माण करना असंभव है। जैसे किसी भवन का वह भाग जहाँ गारा की शक्ति खत्म हो गयी हो या कम हो गयी हो, अस्थिर हो जाता है उसी प्रकार जीवन का वह काल खतरे में पड़ जाता है जिसमें ब्रह्मचर्य की शक्ति का अभाव हो जाता है। जीवन की प्रथम अवस्था में जिन गुणों का अभ्यास किया जाता है वे समान रूप से जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी अनिवार्य हैं। जीवन की अन्य तीन अवस्थाओं का कहना ही क्या, गृहस्थ के जीवन में भी ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा महत्व है। शास्त्रों के अनुसार बिना ब्रह्मचर्य के गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना एकदम असंभव है। आत्म-संयम के बिना गृहस्थ अपने आदर्शों के प्रति कभी भी सच्चा नहीं रहेगा। श्रीरामकृष्ण सभी को (गृहस्थों को भी) कहते थे: "पहले एकत्व का ज्ञान प्राप्त कर लो और फिर अपना कार्य करो"; "ईश्वर रूपी खम्भे को ठीक से पकड़ो और तब उसके चारों ओर चक्कर लगाओ"; "अपने मन का अधिकांश भाग ईश्वर पर केन्द्रित करो और बाकी मन से अपने कर्त्तव्यों का पालन करो।" इन उपमाओं और कई अन्य सुन्दर उपमाओं के द्वारा वे गृहस्थों को शिक्षा देते थे कि कैसे उन्हें अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। इन शिक्षाओं के आधार पर किसी को गृहस्थ रूप में रहना हो तो ब्रह्मचर्य की पहली आवश्यकता है। सर्वप्रथम काम पर नियन्त्रण आवश्यक है। अपनी इच्छानुसार बहिर्गामी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण की शक्ति पहले प्राप्त करना है। एक शब्द में यों कहें कि उसे आत्म-संयमित जरूर होना चाहिए। यही कारण है कि कुछ लोग गृहस्थाश्रम को जीवन का सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहते हैं। निश्चय ही यह एक पवित्र आश्रम है। यह विषयी लोगों के लिए नहीं है, बल्कि पवित्र हृदय वालों के लिए, पूर्ण संयमी के लिए है। विषयासक्त लोगों के लिए ईश्वर ने किसी आश्रम का विधान नहीं किया है। किसी भी शास्त्र में यह नहीं लिखा हुआ हैं कि गृहस्थ अपनी काम प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र छोड़ दें। जरा सोचो कि यह आश्रम कितना पवित्र है जहाँ बड़े-बड़े साधु-संत और यहाँ तक कि स्वयं भगवान भी जन्म ग्रहण करते हैं। कितनी सावधानी की जरूरत है यहाँ! ब्रह्मचर्य के बिना किसी का कल्याण नहीं हो सकता, चाहे वह छात्र हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो। इसके बिना न राष्ट्रीय उन्नति होगी और न विश्व-शांति।

सिर्फ हमारे देश और हमारे धर्म में ही ब्रह्मचर्य पर इतना अधिक जोर नहीं दिया गया है या इसका इतना प्रभाव है, बल्कि संसार के अन्य सभी देशों एवं धर्मों में भी इसका गुणगान किया गया है। प्राचीन काल में पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास दुनिया के अन्य भागों में नहीं किया जाता था; वैदिक ऋषिगण ने ही सर्व प्रथम भारत में इसका पालन किया था। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सुकेश, भरद्वाज आदि छः ऋषि जब पिपालसा ऋषि के पास ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए आये तो उन्होंने उन्हें एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्देश दिया और वादा किया कि इस अवधि के अंत में उन्हें ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा देंगे। फिर छान्दोग्य-उपनिषद में इन्द्र विरोचन और ब्रह्मा के बीच वार्तालाप का प्रसंग है जहाँ ब्रह्माजी ने इन्द्र को एक सौ एक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन कराने के बाद ब्रह्म-ज्ञान दिया है। आगे चलकर भारत से ब्रह्मचर्य का विचार मिस्र, यूनान एवं यूरोप के अन्य देशों में फैल गया। फिर भारत से ही एशिया के विभिन्न देशों में यह विचार फैला। पारसियों ने भी भारत से ही इसे ग्रहण किया। उसके बाद बौद्ध-उपदेशकों ने इसका प्रचार एवं प्रसार किया। बौद्धों से यह विचार Assinis के बीच फैला। ईसाइयों ने कुछ Assinis से और कुछ मिस्र से इसे ग्रहण किया। ये ईसाईलोग फिर

दुनिया के अन्य देशों में इस विचार को ले गये। यह देखा गया है कि दुनिया के जिन देशों में ब्रह्मचर्य का यह विचार गया है वहीं महापुरुषों का उदय हुआ है। इन वीर्य-धारियों से बढ़कर किसी भी व्यक्ति ने अपने देश और सम्पूर्ण विश्व की सेवा नहीं की है। हम सेन्ट पॉल और सर आईजक न्यूटन का उदाहरण ले सकते हैं। अतएव, किसी भी आश्रम में क्यों न हों, यदि हम अपना और अपने देश का वास्तविक कल्याण करना चाहते हैं तो हमें ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि ब्रह्मचर्य केवल धार्मिक लोगों के लिए ही है; यह उनलोगों के लिए भी समान रूप से प्रभावोत्पादक है जो धर्म की परवाह नहीं करते, ईश्वर में या पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते और वेद में विश्वास नहीं करते। क्योंकि मन और इन्द्रिय-निग्रह, सहिष्णुता, संयम, विश्वास एवं मानसिक एकाग्रता—ये षट्सम्पत्तियाँ, जो ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आती हैं, उनलोगों के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण हैं जो अपना और अपने देश की भलाई करना चाहते हैं। चाहें वे भौतिकवादी हों या मुक्ति में अविश्वासी हों। जो अच्छे और महान भौतिकवादी हैं वे भी इन षट्-सम्पत्तियों की प्रशंसा करते हैं। जिनके पास इन षट्-सम्पत्तियों में से कोई भी गुण नहीं हैं वे कभी भी किसी महान वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकते। वास्तव में ये छः सम्पत्तियाँ हैं। जिन्हें अपनी काम-वासना पर और अपने मन पर नियंत्रण है वे इस विश्व में किस चीज की परवाह करेंगे? वह निश्चय ही दीन है, भिखारी है जो इन छः गुणों को धारण नहीं करता है, भले ही वह चक्रवर्ती राजा हो। एक धनी व्यक्ति भय और चिन्ता में अपना दिन व्यतीत करता है लेकिन इन गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति राजा से भी बड़ा होता है, देवता भी उसकी पूजा करते हैं। वह आनन्द और सन्तोष से पूर्ण रहता है। अपनी पूर्णता वह दूसरों को भी दे सकता है। इससे बड़ा आनन्द क्या हो सकता है? खतरे के समय में धनी लोग अपने मित्रों एवं संबंधियों को छोड़कर जानलेकर भाग खड़े होते हैं जबकि जो लोग इन छः गुणों के धनी हैं वे अपना जीवन बिना किसी भय का बिताते हैं साथ ही दूसरों को प्रोत्साहित एवं उसकी सहायता करते हैं। जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे अपने देश के वास्तविक प्रेमी हैं। वे लोग धन्य हैं।

संसार-त्यागी ब्रह्मचारियों एवं संन्यासियों के विरुद्ध यह आरोप लगाया जा सकता है कि वे ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं क्योंकि वे विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते। सृष्टि के प्रारम्भ से ही ईश्वर तक पहुँचने के दो मार्ग प्रचलित हैं—एक है संयमित सुख-भोग का पथ और दूसरा है त्याग का पथ। ईश्वर की यही इच्छा है। वेदों की आज्ञा है कि ज्यों ही किसी में त्याग का भाव आ जाता है उसे सब कुछ त्याग कर संन्यासी हो जाना चाहिए, चाहे यह विवाह के पहले हो या बाद में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। -'ब्रह्मचर्यदेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा।······ यदहरेव विरजेतदहरेव प्रव्रजेत्।" यजुर्वेद (जाबालोपनिषद्) सनक, सनन्द, सनातन, सनतकुमार, शुक आदि जन्म से ही संन्यासी थे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यदि कोई बिना विवाह किये और सन्तान-उत्पति किये संसार त्याग देता है तो वह पितृ ऋण से उऋण नहीं होता है, इसीलिए वह मुक्ति प्राप्त नहीं करेगा। लेकिन भागवत में (२.५.४१) ऋषभदेव के पुत्र करभजन, जनकजी से कहते हैं, "जो सभी कर्मों को छोड़कर मुकुन्द की आराधना मन-प्राणों से करने लगता है, उसे किसी भी ऋण से उऋण नहीं होना पड़ता है, चाहे वह देवताओं के प्रति हो या ऋषि, संबंधियों, पितरों, मनुष्यों या अन्य किसी प्राणी के प्रति हो।" महाभारत (१६७.२६) में देवर्षि नारद शुकदेव जी से कहते हैं, "बिना विवाह किये इन्द्रिय-संयमी बनो।" प्रभु यीशु भी कहते हैं, "कुछ लोगों ने स्वर्ग का राज्य पाने के लिए अपने आप को नपुंसक बना लिया है।" मत्ती १९.१२।

कुछ लोगों को आशंका है कि यदि कोई ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करेगा तो उसे कई बीमारियाँ हो सकती

हैं। लेकिन यह गलत है। डा०निकोलस का कहना है: यह एक शारीरिक तथ्य है कि शरीर का अच्छा रक्त—पुरुष एवं स्त्री दोनों में—प्रजनन-तत्वों के निर्माण में चला जाता है। पवित्र और संयमी जीवन में यह उर्ध्वगामी हो जाता है। इससे सूक्ष्म मस्तिष्क, स्नायु-तंत्र एवं मांस-पेशीय ऊतकों (Musculer tissues) का निर्माण होता है। मानव का यह जीवन उसे पुरुषार्थी, मजबूत, बहादुर और वीर बनाता है। अगर जीवनी-शक्ति को बरबाद कर दिया तो मानव पौरुषहीन, दुर्बल, अदृढ़, मानसिक और बौद्धिक रूप से कमजोर हो जाता है। कामोत्तेजना का शिकार, अनियमित क्रिया-कलाप, विकृत संवेदनाओं, अनियंत्रित मांसपेशीय हरकतों, भग्न स्नायु-तंत्र, मिरगी, उन्माद तथा मृत्यु आदि परिणामों का उन्हें भोग करना पड़ता है।

ज्ञान-सनकालिनी तंत्र में भगवान शिव कहते हैं, "शरीर को यंत्रणा देना कोई तप नहीं है—ब्रह्मचर्य ही सर्वश्रेष्ठ तप है। अखण्ड ब्रह्मचारी मानव नहीं, देवता है।"

हम भी प्राय: अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि जो काम-भावनाओं के गुलाम हैं वे कितने डरपोक और संकीर्ण-दिमाग के होते हैं और उनका जीवन कितना अंधकारपूर्ण एवं दयनीय होता है। जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में कर चुके हैं और सदाचारी हैं, वे कितने बलवान, ओजस्वी, साहसी और आनन्दित हैं!

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जो कोई भी कामिनी का त्याग कर सकता है वह संसार का त्याग कर सकता है।" जिसने काम-सुख का त्याग कर दिया हैं और जिसके मन की बहिर्गामी प्रवृत्ति रुक गई है, निश्चित जान लो कि ईश्वर उससे दूर नहीं हैं। उनकी छाया पहले ही उस पर पड़ गयी है। वे अब अपने आपको ऐसे भक्त से अलग नहीं रख सकते जो किसी चीज की चाह नहीं करते। उसके बाद वह भक्त अपने शरीर के हर अंग में भावानन्द का अनुभव करता है। यह आनन्द इतना तीव्र होता है कि वह अपना बाह्य ज्ञान खो देता है। वह भाव समाधि में चला जाता है और अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति करता है।

यदि उस महान आनन्द की प्राप्ति अनवरत करनी है तो क्षण स्थायी विषय-सुखों का त्याग निर्दयतापूर्वक कर देना चाहिए जो आखिरकार मनुष्य को भयावह दुःख की ओर ले जाते हैं। वह पाखण्डपूर्ण त्याग नहीं जो सिर्फ एक या दो दिनों के लिए किया जाता है बल्कि इन इच्छाओं के थोड़े से अवशेष को भी मन से उखाड़ फेंकना होगा। यदि कोई ऐसा करने में सफल हो जायगा, तो वह अनुभव करेगा कि वह अबतक जिस सुख का भोग कर रहा था वह आनन्द-सागर का एक अत्यंत छोटा अंग था जो विषयेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता था और अब शरीर के प्रत्येक अवयव के द्वारा उस अनन्त आनन्द को प्राप्त कर रहा है क्योंकि रक्त-मांस का यह शरीर परिवर्त्तित, हो गया है, इसका दिव्य रूपान्तर हो गया है और दिव्यानन्द प्राप्त करने के योग्य हो गया है। फिर कोई इस अनन्त आनन्द को छोड़कर तुच्छ विषय-सुखों के पीछे दौड़ने की दुष्टता कैसे करेगा?

काम-भावना पर विजय प्राप्त करने का एक ही रास्ता है—सभी नारियों को अपनी माँ के समान देखना, जगन्माता का ही रूप समझना। जैसे जगत जननी की छवि देखते ही लोग भक्ति-भाव से पूर्ण हो जाते हैं और उनकी आराधना करने के लिए अविलंब तैयार हो जाते हैं, उसी प्रकार किसी नारी को देखकर भक्ति की भावना अन्दर में जागृत हो जानी चाहिए और हमें उनकी पूजा करने के लिए भी समान रूप से तैयार रहना चाहिए। अपने मन में स्त्री-संबंधी विचार को कभी उठने नहीं देना चाहिए। स्त्री को स्त्री रूप में देखना नरक का द्वार खोलना है, जबकि उनको जगन्माता के रूप में देखना मुक्ति का द्वार है। हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। यदि हम ऐसा करेंगे तो प्रलोभन के भय से मुक्त हो जायेंगे।

हमने बार-बार जन्म ग्रहण किया है, लेकिन अपने आप को ऊपर उठाने के लिए, दिव्य-स्वरूप की प्राप्ति

करने के लिए अभी तक क्या किया है ? हम बारम्बार इन विषय-सुखों के पीछे दौड़े हैं और अनन्त दुःखों की प्राप्ति की है। लेकिन कभी भी अपना सुधार करने के लिए एक क्षण भी विचार नहीं किया है। अपना और अपनी समस्त वस्तुओं का प्रभु के पाद-पद्म में क्षणभर का भी सच्चा समर्पण अपनी मुक्ति के लिए पर्याप्त है। लेकिन निष्कपटता आवश्यक है। यह एकमात्र कार्य जीवन की दृष्टि में क्रांतिकारी परिवर्त्तन ला देगा। फिर कोई पुरुष अथवा स्त्री को न देखकर केवल देवत्व को ही देखेगा। उसके बाद काम एवं अन्य सांसारिक सुखों का हीन विचार तुच्छ मालूम होगा या एक साथ ही खत्म हो जायगा और बदले में अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी। यह संसार दुःखों से पूर्ण है लेकिन यह प्रत्येक स्त्री और पुरुष के वश की बात है कि वह इसे आनन्द में परिवर्तित कर दे। प्रत्येक पुरुष ईश्वर है तथा प्रत्येक स्त्री और कोई नहीं, साक्षात् जगन्माता है। अपनी जीवन-दृष्टि बदल डालो और स्वर्ग का राज्य यहाँ और अभी है। ब्रह्मचर्य एक साथ ही जीवन का साध्य और साधन दोनों है।

धारावाही

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन कथा

—चन्द्रशेखर भट्टाचार्य
अनुवादक—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर।

३. श्रीरामकृष्णदेव का आविर्भाव

[युगसन्धिकाल में विवध भावतरंगों के घात-प्रतिघात से सामाजिक विशृंखलता, समाज के रक्षणार्थ भारत की सनातनी मूर्ति का आविर्भाव, साधक की धी और प्रज्ञाशक्ति में भारत के नव अध्यात्मवाद की स्थापना, श्रीरामकृष्णदेव के साधनोद्भासित धर्मतत्त्व का प्रचार, धर्मतत्त्व के प्रचार में विज्ञानवाद की पूर्णता के प्रति सन्देह, वैज्ञानिक श्रीयुत रामचन्द्र दत्त के अन्तर्मन में विप्लव व परिवर्तन तथा लालटू के ऊपर रामबाबू का प्रभाव।]

हम जिस समय की बात कह रहे हैं, धर्म, और राष्ट्र की दृष्टि से उसे संधिक्षण कहना अत्युक्ति न होगा। तब कम्पनी का शासन समाप्त हुए अधिक दिन नहीं हुए थे—सिपाही विद्रोह के पश्चात् तथा ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित होकर भारत की जनता पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा तथा आदर्श के सम्मुखीन हुई थी। भारत की सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान आदि पाश्चात्य विचारधारा की कसौटी पर कसी जा रही थी। ऐसे युगसन्धि के अवसर पर विविध आदर्शों के टकराव तथा विभिन्न आन्दोलनों के बीच भारतवर्ष का हिन्दू समाज लक्ष्यहीन हो चुका था। उस काल के अधिकांश विचार-शील लोगों के मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि वे जिस पथ पर चले जा रहे हैं, जिस धारा में जीवन बिता रहे हैं, उसमें ऐहिक व पारलौकिक सार्थकता है अथवा नहीं। उससे जीवन का मुख्य उद्देश्य सफल होता है,

अथवा नहीं। विचारशील लोगों के दृष्टिकोणों में पार्थक्य होने के कारण, उन्होंने उस एक ही प्रश्न के उत्तर में विभिन्न पथों की ओर निर्देश किया। किसी-किसी ने कहा कि समाज नौका को भारतीय आदर्श के बन्दरगाह से लंगर उठा लेना चाहिए; कोई-कोई बोला, कि पाश्चात्य आदर्श व भावधारा में जो कुछ अच्छा व ग्रहण योग्य है, उसी को भारतीय समाज में प्रचलित करना उचित है; और भी किसी-किसी का निर्देश था कि जो कुछ भी पाश्चात्य है उसका त्याग कर, जो कुछ भी भारतीय है उसकी रक्षा हो। इस प्रकार विविध लोगों के विविध मतों व विधानों के द्वारा समाज की क्षीण प्राणशक्ति पर तरह-तरह के अत्याचार प्रारम्भ हुए। सभी का उद्देश्य था समाज को नीरोग करना, परन्तु समाज की देह के ऊपर एक साथ ही सबकी चिकित्सा शुरू हो जाने के फलस्वरूप समाज की व्याधियाँ दूर होना तो दूर, उससे समस्या और भी जटिल हो उठी।

तत्कालीन विचारकों के विधान दान के फलस्वरूप समाज में तीन भिन्न-भिन्न दल, तीन भिन्न-भिन्न मत व पथ हुए थे। एक दल ने प्राचीन जड़-समाज को ही प्राणवन्त कहकर जारी रखने का प्रयास किया; उन्होंने पुराणवाद को पकड़ रखा और भाग्य को जीवन का श्रेष्ठ नियामक कहते हुए राष्ट्र व धर्म की अधोगति में अपनी पौरुषहीन अकर्मण्यता की प्रशंसा करने लगे। पारलौकिक सुखभोग को उन्होंने लोगों के समक्ष कवित्वमय भाषा में प्रस्तुत किया तथा इहलौकिक दुःख-दुर्दशा को परीक्षा का मानदण्ड समझकर उसी में सन्तुष्ट रहने का उपदेश दिया। उन लोगों ने सामाजिक विधियों की तुलना में निषेधों पर अधिक बल दिया, तथा जिस किसी ने भी इन निषेधात्मक कर्मों को करने का दुःसाहस दिखाया उसे समाज से बहिष्कृत कर दण्डित किया। तत्कालीन प्रचलित कुलीनता तथा छुआछूत को उन्होंने धर्म का अंग बना लिया और देशाचार व लोकाचार में (कुसंस्कार प्रचलित होने के बावजूद) पुरातनपन्थी होने को ही गौरव तथा पौरुष का लक्षण कहकर प्रचार करने लगे। इस दल के बीच उन दिनों शास्त्र-पाण्डित्य दिखाना ही प्रशंसनीय माना जाता था तथा आडम्बर व लकीर का फकीर होना ही सम्मानजनक था। उन्हीं की दूरदृष्टि के अभाव में उनका दल विशृंखलित हो रहा था और इसी विशृंखलता के फलस्वरूप अन्य दो दल अपने को पुष्ट कर रहे थे।

बाकी दो दलों में एक था पाश्चात्य आदर्शमुग्ध शिक्षित समाज। इस वर्ग के अधिकांश लोगों का हिन्दुत्व पर से विश्वास उठ चुका था। उनकी धारणा थी कि जो कुछ भी भारतीय हैं, निकृष्ट है तथा जो कुछ भी पाश्चात्य है, सर्वोत्कृष्ट है। वैज्ञानिक भौतिकवाद को स्वीकार कर, वे लोग जागतिक भोगों को ही जीवन का लक्ष्य समझते थे। ये भोगमार्गी लोग त्याग व संन्यास को अश्रद्धेय मानकर आचारहीन उच्छृंखल तृप्ति को परमाराध्य स्वीकार करते थे। ऐहिक सफलता ही उनके लिए सर्वोच्च साधना हो गयी थी। तीसरा दल पाश्चात्य आदर्शों पर मुग्ध होकर भी सनातन हिन्दू भावधारा में आस्थाहीन न हुआ था, तथापि प्रचलित हिन्दूधर्म पर उनकी श्रद्धा न थी। वे प्रचलित हिन्दूधर्म व उसके रीति-रिवाजों में सुधार चाहते थे तथा इसी अपराध में वे लोग समाजच्युत हो चुके थे। तत्कालीन हिन्दू समाज ने जिन लोगों को बहिष्कृत कर दिया था, उनमें जो लोग वैदिक तथा औपनिषदिक भावधारा से अनुप्राणित थे, उन लोगों ने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समाजों की स्थापना की थी और वे जनसाधारण को हिन्दू आदर्शों के प्रति सचेत करने का प्रयास कर रहे थे। उन्हीं के प्रचार के परिणामस्वरूप समाज में एक विराट् आन्दोलन चल पड़ा। द्वितीय दल के प्रचार से समाज में अनाचार व विशृंखलता आयी थी, परन्तु इस तृतीय दल के प्रचार से समाज में क्रान्ति का आविर्भाव हो रहा था।

ऐसे संकट के समय सभी एक दक्ष नाविक की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। कौन हो सकता था ऐसा नाविक, जो तत्कालीन जीर्ण समाजनौका को वाक्वितण्डा के तूफान से बचाकर, संकीर्णता से दूषित अभि-

मान-तरंग के थपेड़ों से रक्षा कर, मोहसागर की अतल गहराइयों से उबारकर, भारतीय आदर्शधारा व जीवन विधान के सनातन आलोक स्तम्भ की ओर इंगित कर सकें; जो जर्जर नौका की मरम्मत कर उसे पुनः ब्रह्म-सागर गामी कर सके; जिसके स्पर्श से मरणासन्न समाज नवचेतना में उद्‌बुद्ध होकर क्रमशः सबल व प्राणवन्त हो सके? उस समय के बहुत से लोग जान या अनुमान भी न कर सके थे कि उनका आगमन हुआ है।

जिस दिन से वे ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन की दिव्य प्रतिभा के माध्यम से प्रचारित हुए, उस दिन से समाज के नेतृत्व की बागडोर उन्हीं के हाथों में आ पड़ी। व्याधिग्रस्त समाज इतने दिनों से किसी अच्छे चिकित्सक का पता न पाकर इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा था, अब उन्हीं सिद्ध धन्वन्तरी को खोजकर समाज के प्राण आश्वस्त हुए तथा उसने नतमस्तक होकर उनका आदेश शिरोधार्य करने में बिल्कुल भी द्विधा न की। वे एक शक्तिमान, मोहमुक्त व स्थितप्रज्ञ नेता थे और उनके नेतृत्व को अस्वीकार करने की शक्ति उन दिनों किसी में भी न थी। उनकी दिव्य शान्त उदार वाणी, उनका सत्य सरल प्रिय सम्भाषण, उनका अनासक्त अनिन्द्य व्यवहार, उनकी सरस मधुर अहैतुकी प्रीति ने सभी विचारशील लोगों को आकृष्ट कर लिया था। तत्कालीन विचारक मनीषीगण एक-एक कर उन्हीं के पास आ उपस्थित हुए और उन्होंने इन लोगों को माध्यम बनाकर समाज का प्रवाह बदल देना चाहा। तथापि विस्मय की बात यह है कि उस परिवर्तन प्रवाह में क्रान्ति को सिर उठाने का मौका ही न मिला; यहाँ तक कि जो लोग समाज में दुराचार व विश्रृंखलता पैदाकर गर्व अनुभव कर रहे थे, उनके मन में भी पश्चात्ताप का उदय होने से उस गर्वबोध की तृप्ति हवा हो रही थी। यह सब जिस प्रकार घटित हुआ, उसका वर्णन करने की क्षमता हममें नहीं है, परन्तु उन्हीं के आविर्भाव के पश्चात् समाज को थोड़ा शान्ति का वातावरण मिला, और अब भी मिल रहा है।

उस युगतरंग के शिखर पर जिनका आविर्भाव हुआ था, वे थे दक्षिणेश्वर के साधक सिद्ध श्रीरामकृष्ण परमहंस। उन्हीं के देहविग्रह का आश्रय लेकर धर्म की सनातनी प्रकृति आविर्भूत हुई थी। उन्हीं की वाणी ने विविध मनीषियों का आश्रय लेकर विविध रंगो-रूपों में समुद्र की लहरों के समान, मानव मन से निकली विज्ञानवाद, स्वभाववाद, अनीश्वरवाद आदि ज्ञानवादों को निगल लिया था। उन्हीं की प्रज्ञाशक्ति के शाश्वत आलोक में धर्म की सनातन सत्य, सुन्दर और शिव मूर्ति का प्राकट्य हुआ था। उनकी उपलब्धियों के बीच यह तत्त्व प्रस्फुटित हो उठा था—"जितने मत, उतने पथ—ईश्वर अनन्त हैं, उनके पथ भी अनन्त हैं। अनन्त मत, अनन्त पथ—सभी पथों से उनकी प्राप्ति होती है—आन्तरिक होने पर सभी धर्मों के माध्यम से उन्हें पाया जाता है। ···वे साकार भी हैं और निराकार भी। फिर इसके अतिरिक्त भी कितने कुछ हैं, सो कौन जाने? भक्त के लिए वे साकार हैं और ज्ञानी के लिए निराकार। ···वे और जीव तत्त्वतः एक ही हैं—एक ही आत्मा पूर्ण और अंश है, जिस प्रकार अग्नि और उसकी चिनगारी। ···जिसका नित्य है, उसी की लीला। ···जीव और शिव में शक्ति का ही भेद है।" उनकी साधना में सांख्य और योग के, वेदवाद और वेदान्तवाद के, भक्ति और शक्तिवाद के विरोध का सामंजस्य हुआ था। उन्होंने स्वयं भागवतजीवन बिताकर तामसिक व राजसिक लोगों को समझाना चाहा था कि क्षुद्र 'मैं' के अहंकार को लेकर जीवन-पथ पर चलने की अपेक्षा, ईश्वर के हाथ का यन्त्र होकर निरहंकारिता व निरभिमानता का मंत्र लेकर जीवन बिताने में कहीं अधिक सुख शान्ति व तृप्ति है। अपनी साधना के माध्यम से उन्होंने किंकर्तव्यविमूढ़ मानवता को दिखाया कि आध्यात्मिक शक्तियाँ मनुष्य शरीर के भीतर क्रियाशील होकर साधक को एक ही साथ त्याग, प्रेम, वैराग्य, ऐश्वर्य, कर्म और ज्ञान से परिपूर्ण कर सकती हैं। उन्होंने और भी दिखाया था कि धर्मनेता के भीतर ईर्ष्या के लिए जगह नहीं है, संकीर्णता के लिए जगह नहीं है, कुसंस्कार के लिए जगह नहीं है, अकर्मण्यता व ढोंग के लिए जगह

नहीं है। धर्मनेता का जीवन होगा समन्वय का जीवन, सामंजस्य का जीवन और नित्य संयोग का जीवन। वहाँ पर प्रेम, पवित्रता, सत्य और सरलता ही साध्य और साधन दोनों होंगे। उन्हीं की शिक्षा के द्वारा लोग समझ सके कि त्याग में व भोग में, गार्हस्थ्य में व संन्यास में क्या भेद है। उन्होंने भोग की भी निन्दा नहीं की, गृहस्थ से भी घृणा नहीं की—गृहस्थाश्रम को उन्होंने भगवत्-सेवा का आश्रम कहा और संन्यासाश्रम को अनासक्त सेवाश्रम के रूप में गठित करना चाहा। उन्हीं के आविर्भाव से लोगों ने असल और नकल का भेद तत्काल ही समझ लिया। तथापि वे कभी किसी का दोष नहीं दिखाते या निन्दा नहीं करते थे।

इस युगनायक के आविर्भाव से भारत की चिरन्तन जिज्ञासा पुनः ईश्वराभिमुखी हो उठी। परानुकरण की जो प्रवृत्ति हमारे चित्त को भ्रान्त कर रही थी, उसे पुनः सुव्यवस्थित कर ठीक-ठीक पथ पर चलाने की प्रेरणा उन्होंने हमारे भीतर जाग्रत की थी: इसके फलस्वरूप उन दिनों जो भिन्नमुखी शिक्षा व संस्कार हमारे विचारशील लोगों के मन, बुद्धि व इन्द्रियों को अभिभूत कर रहे थे, जिनके भँवर में पड़कर उन लोगों ने अपने आपको सांसारिक विचारधारा में सीमावद्ध कर लिया था तथा स्वतः स्फुरित ब्रह्मजिज्ञासा को सुप्त रख सके थे—इन सब शिक्षाओं व संस्कारों को उन्होंने विशुद्ध व परिमार्जित कर पुनः भगवन्मुखी किया।

उन्हीं की प्रज्ञाशक्ति के स्पर्श से उन दिनों विभिन्न विचारशील लोगों के मन में यह प्रश्न उठा था—"क्या सचमुच स्वभाव से ही सब कुछ होता, जाता और रहता है? क्या यही सिद्धान्त त्रुटिहीन है?··· स्वभाव के पीछे क्या कोई दूसरी शक्ति नहीं है, कोई शक्तिमान पुरुष नहीं है?" बहुत से विचारवान लोगों के अवचेतन मन में ऐसा संशय उत्पन्न हुआ था। तत्कालीन विचारशील लोगों में से डॉ महेन्द्रलाल सरकार, डॉ० राजेन्द्र लाल मित्र, साहित्यसम्राट् बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि आदि सभी की लेखनी व व्याख्यानों से ऐसा ही सुर निकल रहा था। महर्षि देवेन्द्रनाथ, ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र, अध्यापक मजुमदार, आचार्य शिवनाथ व साधक विजयकृष्ण के प्राणों में भी इसी प्रश्न का उदय हुआ था। सभी का प्रश्न था (श्रीयुत रामचन्द्र दत्त की भाषा में)—"तो क्या सिर्फ वाग्जाल के माध्यम से ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किये चलना होगा? क्या इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है?"

विचारशील प्राणों के इस स्फुटमान संशय को ध्यान में रखकर १८६३ ई० में उन्होंने जगदम्बा से अनुरोध किया—"माँ, यहाँ के लोगों को भेज दे।" उन्हीं के आह्वान पर वे लोग एक-एक कर उनके निकट उपस्थित हुए। सभी के प्रश्नों की धारा एक समान ही थी—"भगवान को क्या देखा जा सकता है? प्राप्ति हो सकती है? क्या ईश्वर का अस्तित्व है? वे साकार हैं या निराकार, वे शिव हैं या विष्णु, वे दुर्गा हैं या काली या जगद्धात्री? वे मृण्मयी हैं या चिन्मयी? वे पिता हैं या माता हैं?"

स्वभाव से विज्ञानविद् डाक्टर रामचन्द्र दत्त भी १८७९ ई० में उनके पास आये और अपने हृदय का संशय व्यक्त किया। सत्यद्रष्टा के मृदुहास्य के द्वारा क्षण भर में ही रामचन्द्र दत्त की शंका का निवारण हो गया। रामबाबू की जीवनी में हमें जो तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं उनके आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का दर्शन करते ही वे आस्तिक्य-बोध में दृढ़ हो उठे थे। सत्यद्रष्टा का स्वभाव ही ऐसा है—शास्त्र में लिखा है कि जिन्हें सत्यवस्तु की उपलब्धि हो जाती है, वे सबके भीतर सत्य को दृढ़ कर देते हैं।

प्रथम दर्शन के अवसर पर ही स्वभाववादी डाक्टर रामचन्द्र दत्त के मरु हृदय में आस्तिकता का जो बीज बोया गया था, वही धीरे-धीरे उन्हें रस-माधुर्य के पथ पर खींच लाने लगा। यह परिवर्तन कोई ऐसा-वैसा परिवर्तन न था, वरन् यह था हृदय का आमूल सुधार—जिसमें ऊसर और अनुर्वर चित्त व मन परिवर्तित

होकर अपने फलों-फूलों से सुशोभित करने का प्रयत्न करते है। माधुर्य का स्फुरण इतना अनिवार्य है! परमहंसदेव के साथ क्षण मात्र के संग ने राम दत्त के मन को ऐसा आकर्षित कर दिया था कि गुरुवाद के घोर विरोधी होने के बावजूद उनके मन में उन्हीं को गुरु के रूप में पाने की आकांक्षा हुई थी। इसके लिए उन्होंने उनसे बारम्बार अनुरोध किया। आखिरकार एक दिन अनजाने में रामचन्द्र की दीक्षा सम्पन्न हो गयी।

दीक्षित रामचन्द्र की कठोर तपस्या का संक्रामक प्रभाव क्रमशः उनके परिवार के सभी लोगों पर पड़ने लगा। रामचन्द्र की गृहस्थी का अंग वह बालक-भृत्य भी उस संक्रामक उद्दीपना के हाथ से बच न सका। शिक्षा व संस्कारहीन बालक ब्रह्मतत्त्व के विराटत्व की धारणा न कर पाकर अपने प्रिय रामजी की ही वैसी कल्पना कर दिवानिशि उन्हीं के नाम में अपनी उद्दीपना को प्रवाहित करने लगा।

मालिक रामचन्द्र के गृहमन्दिर में किसी अवसर पर बालक ने सुना था—"भगवान मन देखते हैं। कौन किस कार्य में लगा है, कौन कहाँ पड़ा है—यह नहीं देखते।·········जो व्याकुल है, ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं चाहता, ईश्वर उसी के सामने प्रकट होते हैं।·········सरल व निष्कपट होकर उन्हें पुकारना चाहिए, हार्दिक व्याकुलता के साथ उन्हें न पुकारने पर वे दर्शन नहीं देते।·········निर्जन में उनके लिए प्रार्थना करनी चाहिए, उनके लिए रोना चाहिए, तभी तो उनकी दया होगी।" निरक्षर किशोर के मन में ठाकुर की ये बातें ऐसी घर कर गयी थीं कि परिवर्तीकाल में जैसा उन्होंने मालिक रामचन्द्र के मुख से सुना था ठीक उसी अंग-भंगिमा के साथ, उसी उच्चारण व लहजे में दुहरा पाते थे। हम लोगों ने ये बातें उनके मुख से इतनी बार सुनी है कि जिसका कोई अन्त नहीं, परन्तु प्रतिबार ही हमें ऐसा लगा मानो ये बातें हम अभी-अभी सुन रहे हैं—उनकी वर्णनधारा से होकर ऐसी आन्तरिकता अभिव्यक्त हो उठती थी।

किशोरवय के लालटू की साधना का बीज इन कुछ उक्तियों में निहित था। यह बात हम जानते न थे, बाद में अवधूत नित्यगोपाल के मुख से हमें यह संवाद प्राप्त हुआ।

इन दिनों लालटू रामबाबू के गृह में भृत्य रहकर भी साधना में डूबे थे, तब अवधूत नित्यगोपाल रामबाबू के घर में ही निवास करते थे। अवधूत सर्वदा ध्यान में विभोर रहा करते थे तथा कभी-कभी रामबाबू की सांध्यसभा में परमार्थ-तत्त्व की चर्चा किया करते थे। कभी-कभी वे कीर्तन-भजन आदि में भी सम्मिलित हुआ करते थे। उन्हीं के श्रीमुख से निःसृत इस संवाद को सत्य मानकर हमने इस विषय में अनुसन्धान करना प्रारम्भ किया। अन्त में हमने श्रीरामचन्द्र दत्त की मझली कन्या, जो जीवित थीं, के सम्मुख यह प्रश्न रखा। हमने उनसे जो कुछ सुना वह उन्हीं की भाषा में यहाँ लिपिबद्ध कर रहे हैं—"लालटू को हमलोग अपने बैठके में दोपहर में एक कम्बल ओढ़कर सोया हुआ देखा करते थे। बीच-बीच में उसकी दोनों आँखें आर्द्र हो उठा करती थीं और साथ ही साथ वह अपना बायाँ हाथ बढ़ाकर आँखें पोंछ लिया करता था। हमलोग सोचते कि सम्भवतः उसका मन अपने चाचा के लिए दुःखी है—इसीलिए माँ बीच-बीच में उसे बहुत समझाया करती थी। वह चुप्पी साधे सुनता—कुछ भी बोलता न था।" नेत्रों से ये जल विन्दु किसके लिए प्रवाहित हुआ करते थे, कौन जाने?

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

—स्वामी विवेकानन्द

मंगल कामनाओं के साथ :

मंगला मेटल्स

मेटल कन्टेनर के निर्माता

एवम् जेनरल आर्डर सप्लायर्स

ए २, पत्रकार नगर,

कंकड़बाग कॉलोनी,

पटना—२०

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

—SWAMI VIVEKANANDA

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

MANGALA METALS

(*Manufacturer of Metal Container and General Order Suppliers*)

A 2, Patrakar Nagar,

Kankarbagh Colony,

PATNA—20